अग्निशिखा एवम् पुरोधा
फ़रवरी २०२५
जन्म से मुक्त

अग्निशिखा एवम् पुरोधा फ़रवरी २०२५ वर्ष २, अंक ७, पूर्णांक १९

विषय-सूची

जन्म से मुक्त

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना/सम्पादकीय	३
संस्मरण	५
अग्निशिखा का विकास	१०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३३
माँ के साथ एक पत्राचार	'श्रीमातृवाणी' से	३६
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन': गुरु तथा शिष्य	नवजातजी	३९
आम वाली माँ	ई.आनन्द प्रसाद गुप्ता	४२
अन्तःकरण में आनन्द	'सत्संग पथ' से	४५
छोटी टीत्सी के बड़े सपने...	रेबेका ग्राज़ुलिस रूपान्तर—वन्दना	४६

यदि ये वही हैं जिनकी श्रुति इस संसार में सुनी गयी है
तब तो किसी अद्‌भुत सुखद रूपान्तर पर क्या चकित होना?
परम आनन्द का प्रत्येक सहज चमत्कार
'इन्हीं' के रूपान्तरकारी अन्तर की कीमियागिरी है।

'सावित्री' से

पाठकों को हम यह याद दिला दें कि वैसे पुराने कलेवर की 'अग्निशिखा' का यह हमारा ५५वाँ वर्ष चल रहा है।

प्रार्थना

... बस एक ही उपाय है; जितना सम्भव हो उतनी पूर्णता के साथ तुम जिस उच्चतम और शुद्धतम प्रकाश की कल्पना कर सकते हो उसके साथ युक्त होना, अपनी चेतना को यथासम्भव पूर्णता के साथ परम 'चेतना' के साथ युक्त करना और केवल उसी 'चेतना' से सभी प्रेरणाओं को पाने का प्रयास करना ताकि जितनी अच्छी तरह हो सके धरती पर हम उसकी अभिव्यक्ति का पोषण करें और उसकी शक्ति पर विश्वास करते हुए सभी घटनाओं को प्रशान्ति के साथ देखें।

चूँकि वर्तमान अभिव्यक्ति में हर चीज़ अनिवार्य रूप से घुली-मिली है इसलिए सबसे अधिक बुद्धिमानी इसी में है कि अपना अच्छे-से-अच्छा किया जाये, हमेशा उच्चतम प्रकाश की ओर प्रयास किया जाये और यह मान लिया जाये कि अभी असीम पूर्णता अलभ्य वस्तु है।

फिर भी हमें सदा उस पूर्णता के लिए, जो हमारी पहुँच से बाहर है, कितनी तीव्रता के साथ अभीप्सा करनी चाहिये!...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ६७

सम्पादकीय : दिव्य माँ की कहानी न केवल उनकी कथा है बल्कि यह गाथा है उस भविष्य की जो अभी तक धरती पर प्रकट नहीं हुआ है। यह कहानी हमारी आन्तरिक सत्ता की ओर एक खिड़की खोलती है ताकि हम उनके भागवत व्यक्तित्व के साथ कुछ समय के लिए तो जीवन्त सम्पर्क साध सकें, ऐसा सम्पर्क जो हमेशा ताज़गी और नवजीवन प्रदान करता है।

माँ हैं – परम प्रभु की 'चेतना' तथा 'शक्ति' ।

श्रीअरविन्द

संस्मरण

कान्तिपूर्ण शिशु

जब मैं लगभग तेरह वर्ष की बच्ची थी तो प्रायः एक वर्ष तक रात को जैसे ही मैं बिस्तर पर जाती तो मुझे ऐसा लगता था कि मैं अपने शरीर से बाहर निकल गयी और सीधी मकान के ऊपर उठ गयी, उसके बाद शहर के ऊपर, बहुत अधिक ऊपर। तब मैं अपने-आपको एक सुन्दर सुनहरा शानदार चोगा पहने देखती जो मुझसे बहुत अधिक लम्बा होता था, और जैसे-जैसे मैं ऊपर उठती चोगा लम्बा होता जाता और गोलाकार में मुझे घेर लेता और शहर के ऊपर एक तरह की विशाल छत बना देता। उसके बाद मैं पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को, बूढ़ों, रोगियों और अभागों को सब ओर से आता देखती। वे फैले हुए चोगे के नीचे इकट्ठे हो जाते, सहायता के लिए अनुनय-विनय करते, अपनी दुर्गति, अपने दुःख-दर्द की, अपनी कठिनाइयों की गाथाएँ सुनाते। उत्तर में नमनीय और सजीव चोगा व्यक्तिगत रूप में उनमें से हर एक की ओर बढ़ता और उसका स्पर्श पाते ही उन्हें आराम हो जाता या वे रोग-मुक्त होकर, अपने शरीर में से जैसे आये थे उसकी अपेक्षा ज़्यादा ख़ुश और ज़्यादा बलवान् होकर लौट जाते। मुझे इससे अधिक सुन्दर कुछ नहीं लगता था, कोई चीज़ मुझे इससे ज़्यादा ख़ुश नहीं कर सकती थी; और दिन के सभी क्रिया-कलाप रात की इस क्रिया के आगे मन्द और फीके और वास्तविक जीवन से रहित मालूम होते थे। रात का यह जीवन मेरे लिए सच्चा जीवन था। बहुधा जब मैं इस तरह उठा करती थी तो मैं अपनी बाईं ओर एक वृद्ध सज्जन को चुपचाप और स्थिर देखती थी जो मेरी ओर अनुग्रहपूर्ण स्नेह से देखा करते और अपनी उपस्थिति से मुझे प्रोत्साहित करते थे। मुझे बाद में पता चला कि ये वृद्ध सज्जन, जो गहरा जामुनी चोगा पहने रहते थे, उनका मूर्तिमान् रूप थे जिन्हें 'दुःख-पुरुष' कहा जाता है।

अब वह गहन अनुभूति, वह लगभग अनिर्वचनीय वास्तविकता मेरे मन के अन्य भावों में अनूदित होती है जिनका मैं इन शब्दों में वर्णन कर सकती हूँ :

दिन में और रात को भी बहुत बार मुझे लगता है कि मैं या मेरी चेतना

पूरी तरह से मेरे हृदय में केन्द्रित है जो अब शरीर का एक अंग नहीं है, भावना भी नहीं है बल्कि निर्वैयक्तिक, शाश्वत दिव्य 'प्रेम' है; अपने-आप यह प्रेम होने के कारण मुझे अनुभव होता है कि मैं सारी पृथ्वी की हर चीज़ के केन्द्र में रहती हूँ और साथ-ही-साथ मुझे लगता है कि मैं विशाल, अनन्त भुजाओं को फैला कर असीम स्नेह और कोमलता के साथ सभी सत्ताओं को घेर लेती हूँ, वे मेरे वक्ष पर, जो सारे विश्व से अधिक विशाल है, जकड़ी हुई, इकट्ठी और सुख से दुबकी हुई हैं।... शब्द भद्दे और तुच्छ हैं, हे दिव्य स्वामी; और मानसिक प्रतिलेखन सदा बचकाने होते हैं... लेकिन तेरे प्रति मेरी अभीप्सा सदा बनी रहती है और सच कहा जाये तो बहुधा तू और केवल तू ही इस शरीर में, तुझे अभिव्यक्त करने के इस अपूर्ण साधन में निवास करता है।

वर दे कि तेरे प्रकाश की शान्ति में सभी सत्ताएँ सुखी हों!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ५१-५२

मैं "वह" हूँ

... जब मैं ग्यारह या बारह साल की थी, मेरी माँ ने जंगल की सीमा पर एक 'कॉटेज' किराये पर लिया था; हमें शहर के बीच से होकर नहीं जाना पड़ता था। मैं बहुधा जंगल में जाकर एकदम अकेली बैठ जाती और दिवास्वप्न में खो जाती। एक दिन (कई बार ऐसा होता था), एक दिन कुछ गिलहरियाँ आ गयीं, कुछ चिड़ियाएँ, और *(माँ अपनी आँखें फैलाती हैं)*, एक हिरण, वह मुझे देख रहा था... ओह, कितना प्यारा था वह! जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, मैंने उन सबको वहाँ खड़े पाया, मुझे यह बड़ा मनोहर लगा—फिर वे इधर-उधर भाग गये।

जब मैं तेओं से मिली तब इन सभी चीज़ों की स्मृति वापस आ गयी —बहुत बाद में, जब मैं बीस साल से ज़्यादा की थी, यानी, दस-ग्यारह साल बाद। मैं तेओं से मिली और मुझे इन सभी चीज़ों का स्पष्टीकरण मिल गया। मैं समझ गयी। तब मुझे याद आयीं वे सभी बातें जिनकी मुझे अनुभूतियाँ हुआ करती थीं, और मैंने सोचा, "अच्छा!..." मादाम तेओं ने मुझसे कहा था, उन्होंने कहा था, "ओह, क्या तुम जानती हो कि तुम **'वह'** हो, **'उनकी'** छाप तुम्हारे ऊपर है।" उन्होंने जो कहा था मैंने उस

पर ग़ौर किया और देखा कि वह वास्तव में सच था। वे सभी अनुभूतियाँ जो मुझे हुईं, इस बात का स्पष्ट संकेत थीं कि निश्चित रूप से अदृश्य जगत् में ऐसे व्यक्ति हैं जो मेरी देखभाल कर रहे हैं! *(श्रीमाँ हँसती हैं)*।

रुचिकर बात यह है कि इसमें कुछ भी मानसिक नहीं था: मुझे उन चीज़ों के अस्तित्व का ज्ञान नहीं था, मैं नहीं जानती थी कि ध्यान क्या होता है—ध्यान के बारे में रत्ती भर भी जाने बिना, मैं ध्यान किया करती थी। मैं कुछ नहीं जानती थी, एकदम से कुछ नहीं, मेरी माँ इन सब चीज़ों के पास हमें कभी फटकने तक नहीं देती थीं: इन मामलों में कभी नहीं पड़ना चाहिये, ये चीज़ें तुम्हें पागल बना देती हैं!

९ मार्च १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

शुद्ध प्रेम का स्पन्दन

मेरे लिए शुद्ध प्रेम का स्पन्दन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है; किसी वस्तु के लिए प्रेम नहीं, वह प्रेम नहीं जिसका तुम आदान-प्रदान करते हो, बल्कि अपने-आपमें 'प्रेम'। यह आत्म-अस्तित्व रखता है। और निश्चित रूप से, मेरे लिए किसी भी चीज़ के प्रति जाने का यह सबसे ठोस साधन है। *(यह ऐकान्तिक नहीं है—यह अपने अन्दर दूसरा सब कुछ समाये होता है; यह अन्य मार्गों का, अन्य सम्पर्कों का बहिष्कार नहीं करता।)*

जानते हो, बचपन से लेकर जवानी तक, मेरे योग के आरम्भ तक भी, "भगवान्" शब्द का प्रयोग करने के लिए मेरी सत्ता में एक तरह का इन्कार था क्योंकि इस शब्द के पीछे लोगों ने इतना मिथ्यात्व फैला रखा है *(श्रीअरविन्द ने मुझे इससे छुटकारा दिलाया; जिस तरह उन्होंने सभी सीमाओं से मेरा पिण्ड छुड़ाया, उसी तरह इससे भी कराया)*। लेकिन यह ऐसा शब्द नहीं है जो मेरे अन्दर सहज रूप से आता है।

लेकिन प्रेम... इसके साथ सम्पर्क होते ही, जब वह इस तरह आता है *(भंगिमा)*—उस क्षण कोई चीज़ ऊपर उभर आती है।...

लेकिन शब्दों का कोई महत्त्व नहीं, वे सचमुच महत्त्वहीन हैं।

३१ मई १९६२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

वास्तव में सारा जीवन प्रेम है, अगर हम उसे जीना जानें। श्रीमाँ

सचेतन शरीर के साथ जन्म

मैं सचेतन रूप से सज्जित शरीर के साथ जन्मी थी—श्रीअरविन्द इसके बारे में अभिज्ञ थे, पहली बार, जैसे ही उन्होंने मुझे देखा, तुरन्त उन्होंने यह कहा था। मैं जन्म से मुक्त थी। अर्थात्, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से : कोई कामना नहीं थी। कोई लालसा और आसक्ति नहीं थे। और, मेरे बच्चे, अगर छोटी-से-छोटी लालसा रहती, छोटी-से-छोटी आसक्ति रहती तो यह कार्य करना **असम्भव** होता।

एक योद्धा की तरह प्राण, जिसमें एक अद्‌भुत आत्म-संयम था, पूरी तरह से शान्त-अचञ्चल और निर्विकार योद्धा—कोई कामना नहीं, मोह-माया, आसक्ति नहीं।... बचपन से मैंने ऐसी चीज़ें की हैं जो मानव-चेतना के लिए "दानवीय" हैं; मेरी माँ ने तो मुझसे यह तक कह दिया था कि मैं सचमुच एक "दानव" हूँ, क्योंकि मेरे अन्दर न आसक्तियाँ थीं न कामनाएँ। अगर मुझसे पूछा जाता, "तुम यह करना चाहोगी?" मैं जवाब देती, "मुझे इसकी परवाह नहीं"। ख़ासकर मेरे पिता इस उत्तर से बौखला उठते।[१] अगर लोग मेरे साथ बुरा व्यवहार करते, या अगर किसी का देहान्त हो जाता, या वे चले जाते तब भी मैं एकदम, पूरी तरह से शान्त बनी रहती—इसलिए वे कहते, "तुम दानव हो, तुम्हारे अन्दर संवेदन ही नहीं हैं।"

इस तैयारी के साथ... अब ८६ साल हो गये हैं जब मैं धरती पर आयी, मेरे बच्चे! तीस वर्षों तक मैंने सचेतन रूप से श्रीअरविन्द के साथ कार्य किया, बिना थमे, दिन-रात, रात-दिन मैं काम में निरन्तर जुटी रही।...

हमें जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिये।

२८ मार्च १९६४ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

चेतना का परिवर्तन क्या है माँ?

चेतना का परिवर्तन नवजन्म के समान है, सत्ता के उच्चतर नवजन्म के समान।

[१] माँ ने बाद में यह वाक्य जोड़ा—पिता इसलिए इतने नाराज़ हो जाते कि उनकी बेटी सर्कस देखने के लिए भी नहीं जाना चाहती है... वे सर्कस के प्रेमी थे।

अग्निशिखा का विकास

शुभ और अशुभ के परे

एकदम बचपन से, सहज-सरल रूप में, मेरे अन्दर... कैसे कहा जाये ... सिकुड़ने, नापसन्द करने, सख़्त आलोचना, निन्दा करने या चीज़ों अथवा लोगों से विद्वेष इत्यादि रखने का ज़रा भी भाव नहीं था, जिसे लोग दुर्गुण कहते हैं। मैंने जीवन में विभिन्न प्रकार की चीज़ों का अनुभव किया है, लेकिन मैंने हमेशा एक प्रकाश का अपने साथ होने का अनुभव किया--वह इतना **सूक्ष्म**, इतना **सूक्ष्म**, इतने पूर्ण रूप से पवित्र था (नैतिक अर्थ में नहीं, बल्कि शुद्ध प्रकाश!)—और वह कहीं भी जा सकता था, सचमुच किसी से भी मिश्रित हुए बिना, हर जगह मिल-जुल सकता था। बचपन से मैं इस अग्निशिखा का अनुभव करती थी—श्वेत अग्निशिखा। और मेरे अन्दर **कभी** किसी भी वस्तु, किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा, तिरस्कार, पीछे हटने, दूषित होने की भावना कभी नहीं थी। हमेशा यह अग्निशिखा जलती रहती—शुभ्र, श्वेत, इतनी श्वेत कि कभी कोई उसे किसी और रंग में बदल ही नहीं सकता था। और मैं बहुत पहले से इसका अनुभव करने लगी थी (अब मेरा दृष्टिकोण पूरी तरह से अलग है—यह सीधी ऊपर से आती है, और सभी चीज़ों में 'पवित्रता' देखने के मेरे अन्य कारण भी हैं)। और यह अनुभूति उस समय दोबारा आयी जब मैं 'ज्ञ' से मिली (उनके साथ सम्पर्क के कारण)—और मैंने कोई नकारात्मक भावना, एकदम से कोई भी नकारात्मकता अनुभव नहीं की। बाद में लोगों ने कहा, 'वाह, वे ऐसे थे, वैसे थे!... और अब देखो उनको! देखो, क्या बन गये अब वे!...' किसी ने उनके लिए 'सड़े हुए' शब्द का भी प्रयोग किया—मैं मुस्कुरा दी, क्योंकि देखो, यह सब मेरे लिए अस्तित्व नहीं रखता।

... और मुझे आश्चर्य होता है कि लोग इतने अनम्य, कड़े और कठोर क्यों होते हैं, क्यों वे दूसरों की निन्दा करते हैं (शायद एक दिन मैं यह भी समझ जाऊँ)। मैं यह इसलिए कह रही हूँ कि बहुधा मैं लोगों में इन दो मानसिकताओं को देखती हूँ (गम्भीर मन जो कपट और दुर्गुण देखता है और धार्मिक तथा यौगिक मन जो जगत् को माया मान कर भगवान् के पास जाने से रोकता है) और चूँकि मैं यह सब नहीं मानती,

मेरी आलोचना की जाती है...

आपकी आलोचना की जाती है?

हाँ, लेकिन स्वाभाविक रूप से, खुले आम करने का कोई साहस नहीं करता। एक अर्थ में वे इसे मेरी शिथिलता कहते हैं, कि मैं सख़्ती नहीं करती, वे सोचते हैं कि मुझे लोगों को लम्बी रस्सी नहीं देनी चाहिये क्योंकि यहाँ कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें आश्रम में नहीं रहना चाहिये!

उनके लिए मेरा उत्तर यह है कि सारे संसार को आश्रम में होना चाहिये!

८ नवम्बर १९६० *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

भगवान् शब्द

... जान-बूझकर मैं कोई व्याख्या नहीं दे रही। क्योंकि मेरे सारे जीवन का अनुभव यह रहा है कि यह मात्र एक शब्द है, एक ऐसा शब्द जिसके पीछे लोग-बाग बहुत-सी अवाञ्छनीय चीज़ों को बिठा देते हैं।... इसमें एक ऐसे भगवान् का विचार होता है जो यह दावा करता है कि वही "एक और अकेला" भगवान् है, जैसा कि कहा जाता है: "भगवान् एकमेव और अद्वितीय हैं।" वे यह अनुभव करते हैं और *आनातोल फ़्रांस* जिस तरह कहता है उसी की भाषा बोलते हैं (मेरे ख़याल से यह *The Revolt of Angels* में था) कि भगवान् वह है जो *एक*, *केवल* और *अकेला* रहना चाहता है। यही चीज़ थी जिसने मुझे बचपन में पूरी तरह से नास्तिक बना दिया था, अगर मैं ऐसा कह सकूँ; मैंने ऐसे किसी को भी मानने से इन्कार कर दिया, *वह* चाहे जो हो, जिसने अपने-आपको एकमेव और सर्वशक्तिशाली होने की घोषणा कर दी हो। अगर वह सचमुच एकमेव और सर्वशक्तिशाली होता, *(हँसी)*, फिर भी ऐसी उद्घोषणा करने का उसका कोई अधिकार नहीं है! मेरे मन में इसी तरह की भावना बसी हुई थी। मैं यह दिखाने के लिए इस विषय पर घण्टे-भर तक भाषण दे सकती थी कि प्रत्येक धर्म इस समस्या के साथ किस तरह जूझा है।

बहरहाल, मैंने वही व्याख्या दी जो मुझे तटस्थ लगी। मैंने इस चीज़ के भाव को समझाने की कोशिश की। लोग जिस तरह भगवान् को हौआ बना कर पूजते हैं वह बिलकुल खोखला है, वह तो भयंकर बन जाता है।

शिष्य : मुझे 'सावित्री' की एक बहुत शक्तिशाली पंक्ति याद है जिसमें यह सब एक ही वाक्य में, बहुत भव्यता के साथ उन्होंने कहा है, "अशरीरी, अनामी ने 'प्रभु' को **जन्म** *लेते देखा।..."*

७ जून १९६७ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

आराम का स्थान

सच है, जहाँ लोगों को रहना होता है वे वहीं के लिए बने होते हैं, लेकिन मेरे मामले में, मेरे लिए आरामदायक स्थान केवल यही है। तीस वर्ष की उम्र तक, अपने सारे बचपन और जवानी तक, मुझे हमेशा ठण्ड का अनुभव होता था—हमेशा ठण्ड का। और सर्दियों में... हाँ, मैं स्केटिंग के लिए जाती थी, कसरत किया करती थी, मैं बहुत सक्रिय जीवन जीती थी—लेकिन ठण्ड, भयंकर ठण्ड! मुझे ऐसा महसूस होता था मानों सूरज का अभाव है। लेकिन जब मैं यहाँ आयी : "आह! आख़िरकार *(माँ लम्बी साँस खींचती हैं)* अब मैं आरामदेह हूँ।" जब मैं यहाँ आयी तो पहले साल, प्रचण्ड गर्मी का ऐसा ही मौसम था, लेकिन मेरे शरीर में इतनी ठण्ड जमी हुई थी कि मैं ऊनी सूट पहने घूमा करती थी! ऊनी स्कर्ट, ब्लाउज़ और ऊपर से एक कोट। लोग मुझे घूरते रहते थे... मैंने तो इस पर ध्यान तक नहीं दिया—वह मेरी सामान्य पोशाक थी।

जब मैं यहाँ से दोबारा गयी, मैं पानी के जहाज़ से गयी थी (उस ज़माने में लोग हवाई-जहाज़ से सफ़र नहीं किया करते थे), और जब हमारा जहाज़ भूमध्य सागर के बीच में था, मैं बीमार पड़ गयी—जाड़े के मारे बीमार, वह भी भूमध्य सागर में! तो देख रहे हो न, यहाँ काम करने के लिए मुझे बनाया गया था, *(हँसी)* यह पहले से ही जानी हुई बात थी!

१५ जून १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

आनन्ददायक भव्य नींद

मेरा मानना है कि अगर बच्चा नहीं सोने वाला है तो उसे सुलाना व्यर्थ है—सोने से पहले उसे शान्त होना चाहिये। अगर उन्हें शान्त वातावरण मिले तो वे सो सकेंगे।...

यह चीज़ मेरे मन में बचपन, एकदम बचपन की अनेक चीज़ों की याद

वापस ले आती है। मेरी नानीजी हमसे एकदम सटे हुए मकान में रहती थीं और रात को (रात के खाने के बाद), सोने जाने से पहले हम उनके यहाँ जाते थे। मैं यह नहीं कह सकती कि वहाँ जाना बहुत मज़ेदार था, लेकिन उनके यहाँ बड़ी बढ़िया लम्बी आरामदायक कुर्सियाँ थीं (!) तो जब माँ उनके साथ बतियातीं, मैं उनमें से एक कुर्सी पर लेट जाती और मुझे इतनी सुखद नींद आती कि पूछो मत। लेकिन अगर कोई बाहर से यह दृश्य देखता और उसे इसका कुछ पता न होता तो वह तो यही कहता कि, "देखो ज़रा! ये लोग बिचारे बच्चे को सोने देने की जगह दस-दस बजे तक जगाया रखते हैं।" लेकिन मेरा वह आराम अद्‌भुत होता था!

इसलिए यह बच्चे पर निर्भर करता है। और अगर वह सचमुच उनींदा है तो कौन-सी बात उसे सोने से रोकती है? बस आवश्यकता है कि बच्चों को जहाँ तक सम्भव हो, शान्त वातावरण दिया जाये।

१४ *अक्तूबर १९६४* *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अपने-आपको कहानियाँ सुनाना

इससे अधिक मज़ेदार बात और कोई नहीं है। यह रातें बिताने का बड़ा सुहाना तरीक़ा है।

तुम एक कहानी आरम्भ करते हो, फिर, जब तुम्हारे जागने का समय होता है, तुम अन्तिम वाक्य पर पूर्ण विराम लगा देते हो और अपने शरीर में वापस लौट आते हो।

अगली रात फिर उसे आरम्भ करते हो, पृष्ठ को फिर से खोलते हो और अपनी कहानी फिर से आरम्भ करते हो और जितनी देर बाहर रहते हो पूरे समय उसे जारी रखते हो। और फिर तुम सारी चीज़ों को अच्छी तरह सजाते हो—उन्हें अच्छे ढंग से व्यवस्थित करना चाहिये, उसे बहुत सुन्दर होना चाहिये। और जब वापस आने का समय होता है, तुम फिर से दोबारा पूर्ण विराम लगा देते हो और उन चीज़ों से कहते हो: "जब तक मैं वापस नहीं आ जाता तब तक एकदम चुपचाप यहीं रहना!" और तुम अपने शरीर में वापस आ जाते हो। तुम इस चीज़ को रोज़ शाम को आरम्भ करते हो और परियों की अद्‌भुत कहानियों की एक पुस्तक लिखते हो—बशर्ते कि तुम जब जागो तो उन्हें याद रखो।

परन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम सारे दिन एक निश्चल अवस्था में बने रहें, ठीक है न?

नहीं, यह निर्भर करता है बच्चे की सरलता और सच्चाई पर।

और जो कुछ होता है उस पर विश्वास होने पर, मन की आलोचनात्मक भावना का अभाव होने पर, और हृदय की सरलता, और एक युवा और क्रियाशील ऊर्जा पर—इन सभी चीज़ों पर—अन्तर की एक प्रकार की प्राणिक उदारता पर निर्भर करता है। हमें बहुत अधिक अहंकारपूर्ण नहीं होना चाहिये, हमें न तो बहुत अधिक लोभी, न बहुत व्यावहारिक, न अत्यधिक उपयोगितावादी होना चाहिये—निस्सन्देह ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो हमारे अन्दर नहीं होनी चाहियें... बच्चों की तरह। और फिर, हमारे अन्दर होनी चाहिये एक सुस्पष्ट कल्पनात्मक शक्ति, क्योंकि—ऐसा लगता है कि मैं तुमसे मूर्खतापूर्ण बातें कर रही हूँ, पर यह बिलकुल सही है—एक ऐसा जगत् है जिसमें तुम सर्वोच्च रूप-स्रष्टा होते हो : वह है तुम्हारा अपना ही विशिष्ट प्राणमय जगत्। तुम वहाँ सर्वोच्च निर्माता होते हो और, यदि तुम्हें पता हो कि उसका उपयोग कैसे किया जाता है तो तुम अपना एक अद्‌भुत जगत् बना सकते हो। यदि तुम्हारे अन्दर एक कलात्मक या कविसुलभ चेतना हो, यदि तुम्हें सामञ्जस्य, सौन्दर्य से प्रेम हो तो तुम वहाँ एक आश्चर्यजनक वस्तु का निर्माण कर लोगे जो भौतिक अभिव्यक्ति के अन्दर उतर आने की कोशिश करेगी।

जब मैं छोटी बच्ची थी, मैं इसे "अपने-आपको कहानी सुनाना" कहा करती थी। यह अपने मस्तिष्क में, शब्दों के द्वारा कुछ कहना बिलकुल नहीं है : यह उस स्थान पर चले जाना है जो तरोताज़ा और शुद्ध है, और... वहाँ एक अद्‌भुत कहानी का निर्माण करना है। और यदि तुम्हें पता हो कि इस तरीक़े से अपने-आपको कोई कहानी कैसे सुना सकता है, और वह वास्तव में सुन्दर, वास्तव में सुसमञ्जस, वास्तव में शक्तिशाली और अच्छी तरह सुव्यवस्थित हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवन में संसिद्ध हो सकती है—शायद ठीक उसी रूप में नहीं जिसमें तुमने उसकी सृष्टि की थी, पर जो कुछ तुमने बनाया था उसकी कम या अधिक परिवर्तित भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में संसिद्ध हो सकती है।

इसमें सम्भवतः वर्षों लग सकते हैं, परन्तु तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवन को सुसंगठित करने में प्रवृत्त रहेगी।

परन्तु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो यह जानते हैं कि कोई सुन्दर कहानी कैसे कही जाती है; और फिर वे उसमें सर्वदा भयावह वस्तुओं को मिला देते हैं जिनके लिए बाद में वे पछताते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४१-४३

सीमाओं से छुटकारा पाना

ऐसा कहा जाता है और बार-बार दुहराया जाता है, और कुछ लोग इसे प्रमाणित भी करते हैं : किसी वस्तु को भली प्रकार करने के लिए व्यक्ति को उसमें विशेषज्ञ बनना होगा। उसे वही करना चाहिये और उसी पर एकाग्र चाहिये। यदि व्यक्ति अच्छा दार्शनिक बनना चाहता है, तो उसे केवल दर्शन-शास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिये, यदि वह अच्छा रसायन-शास्त्री बनना चाहता है, तो उसे केवल रसायन-विद्या का ही अध्ययन करना चाहिये। और यदि कोई टेनिस का अच्छा खिलाड़ी बनना चाहता है, तो उसे केवल टेनिस खेलनी चाहिये। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि यह मेरा मत नहीं है। मेरा अनुभव इससे अलग है। मैं सोचती हूँ कि कुछ सामान्य क्षमताएँ होती हैं और व्यक्ति के लिए उन्हें प्राप्त करना किसी एक में विशेषज्ञता प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—हाँ, यदि श्री और श्रीमती क्यूरी जैसी बात हो जो विज्ञान के एक विशेष पक्ष को विकसित करके एक नवीन वस्तु खोजना चाहते थे, तो वे उस पर एकाग्र होने के लिए बाधित थे। किन्तु यह भी तभी तक जब तक उन्होंने यह खोज पूरी नहीं कर ली; एक बार वह हो गयी तो किसी भी चीज़ ने उन्हें अपने मन को और व्यापक बनाने से नहीं रोका।

मैंने अपने बचपन से यही बात सुनी है, और मेरा ख़याल है कि हमारे दादा-परदादाओं ने भी यही सुना था, और हमेशा से यही कहा जाता रहा है कि यदि तुम किसी विषय में सफलता प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें केवल वही करना चाहिये। और मुझे तो इसके लिए सदा डाँट खानी पड़ती थी कि मैं कई भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य किया करती थी! और मुझसे सदा कहा जाता था कि मैं कभी कोई काम भली प्रकार नहीं कर सकूँगी। मैंने पढ़ा,

चित्रकारी की, संगीत सीखा और मैं कई और वस्तुओं में भी लगी हुई थी। मुझसे कहा जाता था कि मेरा संगीत कुछ बन न पायेगा, चित्रकारी किसी काम की न होगी और पढ़ना भी अपूर्ण ही रह जायेगा। शायद यह सच भी हो, किन्तु फिर भी मैंने यह देखा है कि इसके भी अपने लाभ हैं—इन्हीं लाभों के विषय में मैं कह रही हूँ, विस्तारित होना, अपने मन और बुद्धि को नमनीय बनाना। यह सच है कि यदि मैं पहले नम्बर की संगीतकार होना और सामूहिक वाद्य-सम्मेलनों में बजाना, आदि चाहती तो मेरे लिए वह सब करना आवश्यक होता जो वे कहते थे। और चित्रकला के बारे में, यदि मैं उस समय के महान् कलाकारों में स्थान पाना चाहती, तब भी मुझे यही करना पड़ता। यह बात तो समझ में आती है। लेकिन फिर भी, यह केवल एक दृष्टिकोण है। मैं एक बहुत बड़ा कलाकार, महान् संगीतकार बनने की कोई आवश्यकता नहीं समझती। मुझे यह सदा ही एक झूठा अभिमान प्रतीत हुआ है। और इसके अतिरिक्त, अपनी-अपनी राय है...।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २१-२२

नमनीयता और विस्तृत कार्यक्षेत्र

एक बार, बहुत, बहुत पहले, जब श्रीअरविन्द अपने बारे में मुझसे कह रहे थे, यानी, अपने बचपन, अपने विकास के बारे में बता रहे थे तो मैंने उनके सामने यह प्रश्न रखा, "मैं, एक व्यक्तिगत सत्ता के रूप में, इतनी सामान्य क्यों हूँ? मैं कोई भी कार्य कर सकती हूँ; जिस किसी काम को मैंने हाथ में लिया सम्पन्न किया, लेकिन कभी श्रेष्ठ रूप में नहीं: हमेशा इस तरह (*औसत दरजे की मुद्रा*)।" तब उन्होंने मुझे उत्तर दिया: (उस समय मैंने वह अनुग्रह और सहानुभूति के रूप में लिया था), "ऐसा इसलिए है कि यह चीज़ महान् नमनीयता प्रदान करती है—महान् नमनीयता और विस्तृत कार्यक्षेत्र; क्योंकि जो लोग अपने क्षेत्र में पूर्णता पा लेते हैं वे उसमें एककेन्द्रित और विशिष्ट बन जाते हैं।" जैसा कि मैंने कहा, उस समय मैंने उनकी बात बच्चे को सहलाने के भाव में ली थी। लेकिन अब मैं समझ रही हूँ कि सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि हमें किसी भी स्थायित्व से बँधे नहीं रहना चाहिये, यानी, कोई भी चीज़ पक्की, निश्चित नहीं होनी चाहिये—जैसे, उपलब्धि में पूर्णता का भाव—नहीं, वह भी नहीं। उसका

अर्थ होगा, अग्रिम गति में एकदम से विराम-चिह्न लगा देना। अक्षमता का भाव (यानी, जो मैंने औसत होने, किसी भी तरह विशिष्ट न होने की बात कही थी) तुम्हें प्रत्याशा की स्थिति में रखता है, *(ऊपर उठने की अभीप्सा का भाव)* ऐसी वस्तु की प्रत्याशा जो पहले से अधिक अच्छी होगी। इसलिए, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है, नमनीय होना—लचीला होना। नमनीय और विस्तृत: किसी भी चीज़ को बेकार, बुरी या निम्न कह कर अस्वीकार मत करो—किसी को भी नहीं; किसी भी चीज़ को सचमुच उच्च और सुन्दर कह कर पराकाष्ठा पर मत चढ़ा दो—किसी को भी नहीं। हमेशा खुले रहो, हमेशा उद्घाटित।

इस तरह की नमनीयता, ग्रहणशीलता और समर्पण को बनाये रखना ही आदर्श है। यानी, उस प्रभाव के प्रति स्वीकृति इतनी पूर्ण हो कि जीवन में जो कुछ अनायास, सहज-स्वाभाविक रूप से आये, यन्त्र उसे अभिव्यक्त करने के लिए तुरन्त स्वयं को ढाल ले। निस्सन्देह हर चीज़ के लिए—चाहे वह कला हो, संगीत हो, लेखन हो... कुछ भी हो।

लचीला स्वभाव

... बीस या इक्कीस वर्ष की उम्र तक मैं बहुत कम बोला करती थी, और भाषण देने जैसी चीज़ तो बिलकुल, एकदम से मेरे अन्दर नहीं थी। मैं बातचीत में भी हिस्सा नहीं लिया करती थी: मैं सुना करती थी, लेकिन बोलती बहुत कम थी... फिर मैं अब्दुल बहा ("बहाई" धर्मगुरु) के सम्पर्क में आयी, वे उस समय पैरिस में थे, एक तरह की आत्मीयता हो गयी थी। मैं उनके समारोहों में जाती थी क्योंकि मेरी उनमें रुचि थी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "मैं बीमार हूँ, बोल नहीं पाऊँगा, मेरे बदले में तुम वक्तव्य दे आओ।" मैंने कहा, "मैं! मैं इस तरह नहीं बोलती।" उन्होंने जवाब में कहा, "तुम बस वहाँ जाओ, चुपचाप बैठ कर एकाग्र होना और जो कुछ तुम्हें बोलना है वह अपने-आप आ जायेगा। जाओ और यह परीक्षण करो, तुम देखोगी...।" हाँ, तो *(हँसते हुए)* मैंने वही किया जो उन्होंने कहा। क़रीब तीस-चालीस लोग वहाँ थे। मैं उनके बीच में जाकर बैठ गयी, बहुत शान्त बनी रही, और फिर... मैं इस तरह बैठी, मेरे अन्दर कोई विचार नहीं था, कुछ नहीं, और अचानक मैंने बोलना

शुरू कर दिया। मैं आधे घण्टे तक बोलती रही (मुझे यह भी नहीं पता कि मैंने कहा क्या), और जब मेरा वक्तव्य समाप्त हुआ सभी बहुत प्रसन्न थे। मैं अब्दुल बहा से मिलने गयी, उन्होंने मुझसे कहा, "तुम उत्तम रीति से बोली।" मैंने कहा, "वह मैं नहीं थी!" और उस दिन से (मुझे उनसे वह कौशल प्राप्त हो गया, समझ रहे हो!), मैं वैसे ही रहती, बहुत शान्त, और सब कुछ अपने-आप आ जाता। इसमें विशेषकर "मैं" के भाव को ग़ायब हो जाना चाहिये—यही है प्रत्येक वस्तु में छिपी महान् कला का रहस्य, हर एक चीज़ के लिए यह लागू होती है, तुम कुछ भी करो : उदाहरण के लिए चित्रकारी... (मैंने चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, यहाँ तक कि संगीत भी किया), हर एक चीज़ के लिए—अगर तुम "मैं" के भाव को तिरोहित कर सको, तब तुम अपने-आपको उस चीज़ के गूढ़ ज्ञान के प्रति खोल देते हो (मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि के प्रति)। यह आवश्यक नहीं है कि उस स्तर की सत्ताएँ, बल्कि उस कार्य की आत्मा तुम्हारी सहायता के लिए आ उपस्थित होती है।

१८ फ़रवरी १९६७ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

आराम की आवश्यकता

मैं अपने जीवन में कई बार बेहोश हुई हूँ। यहाँ तक कि जब मैं जवान थी, मैं सचेतन होती थी और फिर काफ़ी लम्बे समय तक अपने शरीर से बाहर निकल जाया करती थी और तुरन्त मैं अपने-आपको किसी हास्यास्पद स्थान पर देखती (जहाँ जाने की मुझे कोई ज़रूरत ही न होती!)। तो मैं तेज़ी से शरीर में लौट आती और कहती, "चलो, चलो! क्या हो रहा है तुम्हें!" और फिर शरीर चौकन्ना होकर अपने-आपको झाड़ता और ठीक रास्ते पर चल पड़ता, गधे की तरह—तुम उसे एक चाबुक लगाओ और वह दोबारा काम पर लग जाये!

इस तरह का आराम आराम नहीं है। मैं इसके बारे में सचेतन थी, लेकिन अधिकतर लोग नींद में इसी तरह की अवस्थाओं में चले जाते हैं, शरीर असहाय-सी प्राणिक अवस्थाएँ ले लेता है जिसमें ऊर्जा नहीं मिलती, आराम नहीं मिलता, बल्कि नींद से बाहर अधिक थका हुआ निकलता है। शरीर को सच्चे आराम की ज़रूरत होती है।

आजकल जगत् की जैसी अवस्था है यह "सामान्य" ही है—लेकिन अगर अतिमानसिक जगत् को लाना है तो यह अवस्था सामान्य नहीं हो सकती। निश्चित रूप से, जड़-भौतिक तत्त्व में पर्याप्त बदलाव लाना ही होगा। एक नये तत्त्व को आना होगा तभी प्रकृति के तरीक़े से निर्मित आज के शरीरों और अतिमानसिक ज्ञान से सज्जित भावी शरीरों का तात्त्विक भेद ज्ञात होगा। तब आज की यह अवस्था "सामान्य" न रहेगी। लेकिन जब तक यह अवस्था सामान्य है, हाँ, हमें धीरज धरना ही होगा...।

निस्सन्देह, अगर तुम्हारे अन्दर भागवत 'उपस्थिति' का आन्तरिक गुण है तो हर चीज़ में शरीर इतना हाँफता नहीं है। इतनी ज़्यादा थकान अत्यधिक तनाव से आती है जो कामना, आयास या संघर्ष से उपजता है, समस्त विरोधी शक्तियों के बीच सतत क्लेश से उत्पन्न होता है।

ये सभी विरोधी तत्त्व चले जायेंगे। अनावश्यक रूप से हम अपने-आपको थका देते हैं।

९ *जनवरी १९६२* *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

विद्यार्थी-काल

बिलकुल बचपन से ही मैंने चीज़ों का अवलोकन करना बन्द नहीं किया; जब मैं बहुत छोटी थी तो मुझे इसलिए झिड़कियाँ मिलती थीं कि मैं कभी बातें नहीं करती थी। मैं इसलिए न बोलती थी क्योंकि मैं अपना सारा समय अवलोकन में बिताती थी। मैं अपना समय अवलोकन में लगाती थी, मैं हर चीज़ को अंकित कर लेती थी, जो भी सीख सकूँ सीखती थी, मैंने कभी सीखना बन्द नहीं किया। लेकिन अब भी मुझे आश्चर्य होता है। अचानक मैं अपने-आपको ऐसी ऐंठी-मरोड़ी, कपटपूर्ण, अँधेरी गतियों को देखते हुए पाती हूँ कि मैं स्वयं से कहती हूँ: "यह सम्भव नहीं है! क्या ऐसी चीज़ भी हो सकती है?" वास्तव में, अब भी जो चीज़ें दिन-प्रतिदिन मेरे आगे आती हैं उनके बारे में मैं अपने-आपसे कहती हूँ: "यह सम्भव नहीं है! क्या संसार में इस तरह से चीज़ें होती हैं?" और फिर भी मैंने बहुत अधिक संख्या में लोग देखे हैं, मैंने बहुत छोटी अवस्था से ही लोगों को ध्यान से देखना शुरू कर दिया था। मैंने बहुत-से देश देखे हैं। दूसरों को जो सलाह देती हूँ उसे मैंने स्वयं करके देखा है; हर एक देश में, उसे

भली-भाँति समझ सकने के लिए, उस देश का रहन-सहन अपनाया है। बाहरी सत्ता में मुझे सीखने से अधिक रुचिकर कोई और चीज़ नहीं लगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १८९-९०

... अपने जीवन में एक बार मैंने एक परीक्षा दी (मुझे याद नहीं कौन-सी), लेकिन मैं वह परीक्षा देने की उम्र तक बस पहुँची ही थी, क्योंकि जब सामान्य परीक्षा हुई उस समय मैं नहीं दे सकती थी क्योंकि मैं बहुत छोटी थी, तो जो परीक्षा में पास नहीं हुए थे उनकी शरद् ऋतु में जब दोबारा परीक्षा हुई तब मैं उस उम्र तक पहुँच गयी थी कि उनके साथ बैठ कर परीक्षा दे सकूँ। मुझे याद है, हमारा छोटा दल था, अध्यापक बहुत बिगड़ रहे थे क्योंकि छुट्टियाँ कम कर दी गयी थीं, और अधिकतर विद्यार्थी औसत दरजे के थे या थे उद्दण्डी। तो मैं वहाँ थी, मैं वह सब बड़े ध्यान से देखा करती थी (मैं बहुत छोटी थी, समझ रहे हो, मुझे याद नहीं कितने साल की, तेरह या चौदह), मैं सारी चीज़ का अवलोकन करती थी: एक बिचारी लड़की को शिक्षक ने श्याम पट्ट पर बुला कर गणित का एक सवाल हल करने को कहा, वह उसका हल नहीं जानती थी, वह हकलाती रही। मैं (तब तक मुझसे पूछा नहीं गया था), मैं यह देख कर मुस्कुरा दी—हे भगवान्! अध्यापक ने मुझे देख लिया, वे एकदम नाख़ुश हो गये। उस लड़की को उन्होंने वापस भेजा नहीं कि मुझे बुला लिया और बोले, "तुम इसे हल करो।" हाँ तो, स्वभावतः (गणित मुझे बहुत प्रिय है, सचमुच बहुत ही प्रिय, और साथ ही मुझे वह सवाल समझ में भी आ गया था), मैंने वह हल कर दिया—अध्यापक का चेहरा!... देखो, मैं उसमें बन्द नहीं थी (बाहरी छोटे से व्यक्तित्व में): मैं सारे समय साक्षी के रूप में रहा करती थी और मुझे इसमें इतना मज़ा आता था, इतना कि वह सचमुच विलक्षण था। इसलिए मैं जानती हूँ, बच्चे कैसे होते हैं, शिक्षक कैसे होते हैं, मुझे यह सब मालूम है, मैं अपने-आप ही बहुत ख़ुश रहा करती थी, बहुत मज़े लेती थी। घर पर, मेरा भाई उन दिनों उच्चतर गणित पढ़ रहा था। (वह Polytechnique (पॉलीटेकनिक) में जाना चाहता था), उसे वह कठिन लग रहा था, मेरी माँ ने उसके लिए घर पर एक शिक्षक लगा दिया जो उसे सिखा सके। मैं अपने भाई से दो साल छोटी थी। मैं उसकी किताब देखती और सब कुछ

मेरे लिए स्पष्ट होता। तो एक दिन शिक्षक जी-जान से जुटे थे, भाई उसमें अपना सर खपा रहा था कि तभी अचानक मैं बोल पड़ी, "लेकिन, इसे तो ऐसे करना है!" फिर मैंने अध्यापक का चेहरा देखा! ... ऐसा लगता है कि उन्होंने जाकर मेरी माँ से कहा, "सीखना तो तुम्हारी बेटी को चाहिये!" *(माँ हँसती हैं)* और वे सारे सवाल मेरे लिए चित्र की तरह होते, समझ रहे हो, इतने रोचक, इतने रोचक! अतः, मैं जानती हूँ, मुझे याद रहता है, मैं सब प्रतिक्रियाएँ भी जानती हूँ, सभी आदतें।... यही कारण है कि मैं यहाँ विद्यालय में दख़ल देना नहीं चाहती थी, क्योंकि मुझे पता था कि मैं जो कहूँगी सब उसके अनुसार नहीं चल पायेंगे, सब कुछ धीरे-धीरे ही तो आता है, लेकिन यह नक़ल करने की बात से मैं बीच में आयी[१]...

बचपन में कुछ समय तक मैं ग़ैरसरकारी विद्यालय में पढ़ी : मैं सरकारी विद्यालय में इसलिए नहीं गयी क्योंकि मेरी माँ मानती थीं कि किसी लड़की को सरकारी स्कूल में भेजना उसके योग्य नहीं है! इसलिए मैं 'प्राइवेट स्कूल' में थी—उस ज़माने का नामी-गिरामी विद्यालय : वहाँ के शिक्षक सचमुच समर्थ शिक्षक थे। मेरे भूगोल के अध्यापक, प्रसिद्ध व्यक्ति, भूगोल के बारे में उनकी लिखी किताबें बहुत प्रचलित थीं, वे बड़े सज्जन पुरुष थे। तो मैं उनके साथ भूगोल पढ़ा करती थी; मुझे नक़्शे बहुत पसन्द थे क्योंकि उन्हें बनाने में मुझे बड़ा मज़ा आता था। एक दिन अध्यापक ने मुझसे पूछा, "नगर और बड़े-बड़े शहर नदियों के किनारे क्यों पाये जाते हैं?" मैंने बाक़ी बच्चों की विस्मय से भरी आँखें देखीं, वे शायद अपने अन्दर बुदबुदा रहे हों, "बाल-बाल बचे, प्रश्न हमसे नहीं पूछा गया!" मैंने जवाब दिया, "लेकिन यह तो सीधी-सरल सी बात है! ऐसा इसलिए होता है कि आवाजाही के लिए नदियाँ प्राकृतिक साधन हैं।" *(श्रीमाँ हँसती हैं)* वे भी ज़रा चौंक गये!... तो ऐसा था, मैं रटन-विद्या का प्रयोग कभी नहीं करती थी, मैं सभी विषयों में ख़ूब सोचती थी और पढ़ाई में बड़ा मज़ा लेती थी—मैं पूरी तरह से उसमें डूब जाती थी, इसलिए मेरे लिए पढ़ाई बहुत ही मज़ेदार, कह सकते हैं कि आमोद-प्रमोद की चीज़ थी!

[१] शुरुआत में आश्रम के विद्यालय में परीक्षाएँ हुआ करती थीं। एक बार किसी विद्यार्थी द्वारा नक़ल करने की बात सुन कर श्रीमाँ ने तब से परीक्षाओं को ताक पर रखवा दिया और विद्यार्थियों को स्वतन्त्र विकास की छूट देनी प्रारम्भ कर दी। —अनु.

साहित्य के हमारे अध्यापक... वे वृद्ध थे, उन सभी परम्परागत विचारों से लदे-फँदे जिनकी कल्पना की जा सकती है। ओह, कितने उबाऊ थे वे!... तो, उनकी कक्षा में सभी विद्यार्थी धरती की ओर नाक झुकाये बैठे रहते थे। वे लेख लिखने के लिए विषय दिया करते थे—क्या तुम्हें पता है कि *The Path of Later On and the Road of Tomorrow?—थोड़ी देर बाद का रास्ता और आगामी कल की सड़क*—[१] यह मैंने तब लिखा था जब मैं बारह वर्ष की थी, उनके दिये प्रश्न पर, शायद उन्होंने कोई मुहावरा दिया था (अब मुझे वह याद नहीं है)। और वे आशा कर रहे थे कि मैं उस लेख में गम्भीर, समझदारी से भरी बातें लिखूँगी! मैंने अपनी कहानी, वह छोटी-सी कहानी लिख दी। बाद में वे हमेशा मुझे बड़े सन्देह और बड़ी आशंका की दृष्टि से देखने लगे! *(हँसी)* शायद वे यह आशा कर रहे थे कि मैं उनके व्यवहार पर कोई तमाशा खड़ा करूँगी... ओह! लेकिन मैं तो अच्छी लड़की थी न!

हमेशा से यही रहा है : जीवन की उस हास्यास्पदता को मैं हमेशा देखा करती हूँ जिसे लोग इतनी गम्भीरता से ले लेते हैं!

२६ *जुलाई १९६७* *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

थोड़ी देर बाद का रास्ता

"थोड़ी देर बाद का रास्ता और आगामी कल की सड़क हमें सिर्फ़ कुछ-भी-नहीं के महल में ले जाते हैं।"

रास्ते के किनारे, रंग-बिरंगे फूल आँखों को हर्षित करते हैं। छोटे-छोटे पेड़ों पर लाल-लाल बेरियाँ गाँठदार टहनियों पर चमक रही हैं और, कहीं दूर देदीप्यमान सूर्य अन्न की पकी हुई बालियों पर सोना चमका रहा है।

एक युवा पथिक झूमता-झामता, सवेरे की निर्मल हवा में आनन्द से साँस लेता चला जा रहा है; वह प्रसन्न मालूम होता है, उसे भविष्य की कोई चिन्ता नहीं। वह जिस रास्ते पर चल रहा है वह एक चौराहे पर निकलता है जहाँ से कई रास्ते सभी दिशाओं में बँट जाते हैं।

युवक हर जगह, हर दिशा में, एक-दूसरे को काटते हुए पद-चिह्न देखता

[१] **श्रीमाँ का यह लेख इसी लेख के बाद दिया जा रहा है—सं.**

है। आकाश में सूर्य अधिकाधिक चमक रहा है; पेड़ों पर विहग गा रहे हैं; दिन के अत्यधिक मनोहर होने की पूरी सम्भावना है। बिना सोचे-विचारे पथिक सबसे नज़दीक का रास्ता लेता है, बात व्यावहारिक लगती है; क्षण-भर के लिए उसे ख़याल आता है कि कोई और रास्ता भी तो चुना जा सकता था; लेकिन अगर यह रास्ता अन्धी गली निकला तो लौटने के लिए काफ़ी समय है। एक आवाज़-सी सुनायी देती है जो उससे कहती है : "लौट चलो, लौट चलो, तुम ठीक रास्ते पर नहीं हो।" लेकिन उसके चारों ओर जो कुछ है वह उसे बहुत अच्छा लगता है, उसे मोहित कर रहा है। अब वह क्या करे? उसे नहीं मालूम। किसी निश्चय पर पहुँचे बिना वह आगे बढ़ता जाता है; उस क्षण के सुखों में वह ख़ूब मज़ा ले रहा है। वह उस आवाज़ को उत्तर देता है : "बस थोड़ी देर बाद, और थोड़ी देर बाद, मैं इसके बारे में सोचूँगा; मेरे पास बहुत समय है।" उसके चारों ओर उगी जंगली घासें उसके कान में फुसफुसाती हैं : "थोड़ी देर बाद।" थोड़ी देर बाद, हाँ बाद में। जब सूर्य अपनी ऊष्मा-भरी किरणों से हवा को गरमाता है तो इस सुरभित वायु में साँस लेना कितना मधुर लगता है! हाँ, बाद में, थोड़ी देर बाद। और पथिक आगे बढ़ता चलता है; रास्ता चौड़ा होता जाता है। दूर से आवाज़ें सुनायी देती हैं : "तुम कहाँ जा रहे हो? ओ बेचारे मूर्ख, क्या तुम देख नहीं पा रहे कि तुम अपने विनाश की ओर जा रहे हो? तुम अभी छोटे हो; आओ, आओ, हमारी ओर आओ, सुन्दर, शिव और सत्य की ओर आओ; आलस्य और दुर्बलता के कारण ग़लत रास्ते पर न जाओ, वर्तमान को लेकर ही सो न जाओ; भविष्य के प्रति जागो।"—पथिक अप्रिय आवाज़ों को उत्तर देता है : "बाद में, बाद में।" फूल उसे देख कर मुस्कुराते हैं और दोहराते हैं : "बाद में।" रास्ता और भी चौड़ा होता जाता है। आकाश में सूर्य चोटी तक पहुँच चुका है; दिन प्रकाशमान है। रास्ता सड़क में बदल जाता है।

सड़क सफ़ेद और धूल-भरी है, उसके किनारे भोज-वृक्ष खड़े हैं; एक छोटी-सी नदी का कल-कल शब्द सुनायी दे रहा है; लेकिन वह व्यर्थ में चारों ओर खोजता है, उसे इस अनन्त सड़क का कहीं अन्त नहीं दिखायी देता।

युवक एक छिपी हुई बेचैनी-सी अनुभव करता है, चिल्लाता है : "मैं कहाँ हूँ? मैं कहाँ जा रहा हूँ?... इसकी क्या परवाह! सोचा ही क्यों जाये?

कुछ भी क्यों किया जाये? चलो, इस अन्तहीन सड़क पर ही बेमतलब भटका जाये; चलो, चलते चलें। कल सोचेंगे।"

छोटे-छोटे पेड़ ग़ायब हो गये; सड़क के किनारे बलूत लगे हैं; खाई आरम्भ हो रही है जो दोनों ओर खोखला करती जाती है। पथिक को थकान नहीं लग रही; वह मानों प्रलाप की अवस्था में आगे घसीटा जा रहा है।

खाई और गहरी होती जा रही है; बलूत के पेड़ की जगह चीड़ ने ले ली; सूरज ने ढलना शुरू कर दिया। पथिक चारों ओर चकराया-सा देखता है; उसे खाई में लोटते हुए मानव आकार दिखायी देते हैं, कई चीड़ के पेड़ों से चिपके हैं तो कुछ सीधी चट्टानों से और कुछ बाहर निकलती जड़ों से; उनमें से कुछ वापस चढ़ आने के लिए भरसक कोशिश कर रहे हैं; लेकिन जैसे ही किनारे के पास आते हैं, वे मुँह फेर लेते हैं और मानों जानबूझ कर फिर जा गिरते हैं।

गूँजती हुई आवाज़ें पथिक से चिल्ला कर कहती हैं: इस इलाक़े से भाग निकलो; चौराहे की ओर लौट जाओ; अभी भी समय है।" युवक ठिठकता है और फिर उत्तर देता है: "कल।" वह दोनों हाथों से अपना मुँह ढक लेता है ताकि खाई में लोटते शरीरों को न देख सके, और सड़क पर दौड़ पड़ता है, उसमें आगे बढ़ते जाने का अदम्य आवेग है। अब उसे रास्ता मिलने की परवाह नहीं है। माथे पर झुर्रियाँ और कपड़े अस्त-व्यस्त, वह हताशा में दौड़ा जा रहा है। आख़िर, अपने-आपको उस मनहूस जगह से दूर मान कर वह आँखें खोलता है: चीड़ के पेड़ ख़तम हो चुके हैं; चारों ओर बस धूसर, बंजर, पथरीली ज़मीन है। सूरज क्षितिज के पीछे जा छिपा है और रात प्रकट हो रही है। सड़क एक अनन्त रेगिस्तान में खो जाती है। पथिक निराश है, लम्बी दौड़ के कारण थक कर चूर हो गया है। वह कहीं रुकना चाहता है पर उसे चलना ही पड़ेगा। उसके चारों ओर खण्डहर हैं; उसे दबी, घुटती हुई आवाज़ें सुनायी देती हैं; उसके पैर कंकालों में लड़खड़ाते हैं। दूर, उस ओर, कुहरा भयावने आकार ले रहा है; काले-काले ढेर कुछ ख़ाके-से बना रहे हैं; किसी महाअनिष्ट के आसार दिख रहे हैं। पथिक अपने सामने दिखते इस लक्ष्य की ओर चलने की जगह उड़ना शुरू करता है। परन्तु वह हमेशा उससे बच निकलता है। हिंसा-भरी, क्रूर चिल्लाहटें उसे आगे का रास्ता दिखलाती हैं; वह इधर-उधर भूत-प्रेतों से

भिड़ता जाता है। आख़िर उसे अपने आगे एक बहुत बड़ी इमारत दिखायी देती है, अँधेरी, सुनसान, विषाद-भरी—उन महलों में से एक जिनके बारे में लोग सिहरन के साथ कहते हैं: "यह भुतहा महल है।" लेकिन युवक उस जगह के विषाद के बारे में नहीं सोचता। उन बड़ी काली दीवारों, धूल-भरी ज़मीन और इन भयंकर, भीमकाय मीनारों का उस पर कोई असर नहीं होता। इन्हें देख कर उसके रोंगटे नहीं खड़े होते! वह बस सोचता है कि वह अपने लक्ष्य पर आ पहुँचा। वह सारी थकान, सारी उदासी और विषण्णता को भूल जाता है। महल की ओर बढ़ते हुए वह एक दीवार से छू जाता है और दीवार तुरन्त ढह जाती है; उसके चारों ओर सब कुछ, मीनारें, परकोटे, प्राचीर, सब-के-सब धूल में डूब जाते हैं; जो धूल ज़मीन को ढके हुए थी उस पर परतें और बढ़ जाती हैं।

उल्लू, कौए और चिमगादड़ कर्कश आवाज़ें करते हुए बाहर निकल आते हैं और बेचारे पथिक के सिर के चारों ओर मँडराने लगते हैं। वह सम्मोहित-सा, हताश और थक कर चूर, अपने स्थान से जकड़ गया है; अब ज़रा-सी गति करना भी असम्भव है। अचानक, मानों इन बीभत्स, दिल दहलाने वाली चीज़ों की कमी पूरी करने के लिए उसे अपने आगे भयंकर भूत खड़े दिखायी देते हैं जिनके नाम हैं: 'बरबादी', 'निराशा', 'जीवन से घृणा'। और इन खण्डहरों के बीच उसे एक झाँकी मिलती है 'आत्म-हत्या' की जो अथाह खाई के ऊपर खड़ी है—रक्तहीन, उदास और खिन्न। ये सभी सांघातिक भूत उससे चारों ओर से चिपटे हैं और उसे मुँह बाए खड़े जोखिम की ओर ढकेलते हैं। अभागा आदमी इन दुर्धर्ष शक्तियों का सामना करना चाहता है, वह पीछे हटना चाहता है, बच निकलना चाहता है, जो अदृश्य भुजाएँ उसे अपने में समेटे हुए हैं, जकड़े हुए हैं वह उनमें से निकल भागने की कोशिश करता है। लेकिन अब बहुत देर हो चुकी है। वह उस घातक खाई की ओर बढ़ा जा रहा है। वह उससे आकर्षित, सम्मोहित है। वह पुकारता है, पर कोई आवाज़ उसे जवाब नहीं देती। वह भुतहा आकारों को पकड़ता है, लेकिन हर चीज़ उसके नीचे ढहती जाती है। निर्जीव आँखों से वह अपने चारों ओर के शून्य का अवलोकन करता है, वह पुकारता है, याचना करता है, अन्ततः उसके कानों में गूँज उठती है 'अशुभ' की बीभत्स हँसी।

पथिक अब खाई के किनारे पर है। उसके सब प्रयास व्यर्थ हैं। एड़ी से चोटी का पूरा ज़ोर लगा कर वह गिर पड़ता है... अपने बिस्तर से।

एक युवा विद्यार्थी को अगले दिन के लिए एक लम्बा निबन्ध तैयार करना था। सारे दिन के काम से वह कुछ थक गया था, उसने घर लौट कर अपने-आपसे कहा : "मैं बाद में काम कर लूँगा।" शीघ्र ही उसने सोचा कि अगर वह ज़रा जल्दी सो ले तो सवेरे जल्दी उठ कर अपना काम पूरा कर लेगा। "चलो, सो जायें," उसने अपने-आपसे कहा। "मैं कल ज़्यादा अच्छा काम कर सकूँगा, रात बहुत अच्छी सलाहकार होती है।" उसने आशा न की थी कि उसकी बात इतनी सच्ची निकलेगी। उसकी नींद में उस दुःस्वप्न ने गड़बड़ कर डाली जिसका हम अभी वर्णन कर आये हैं। खाट से गिर कर वह चौंक पड़ा और अपने स्वप्न के बारे में सोचते हुए बोला : "सारी चीज़ कितनी सरल है : यह रास्ता था, 'थोड़ी देर बाद' का रास्ता, सड़क है आगामी 'कल' की सड़क और वह विशाल भवन था... 'कुछ-भी-नहीं' का महल।" अपनी होशियारी पर फूला न समाया हुआ, युवक काम पर बैठ गया और उसने अपने-आप से दृढ़ प्रतिज्ञा की कि जो वह आज कर सकता है उसे कल पर कभी न टालेगा।

१८९३ **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड २, पृ. १-५

नींद के बारे में श्रीमाँ

तुम्हें अच्छी तरह सोना चाहिये। हाँ, मैंने देखा है कि ज़्यादा समय के लिए सोना महत्त्वपूर्ण है। जैसे ही तुम्हें थकान लगे, अपने-आपको नींद में फिसल जाने दो, प्रतिरोध मत करो। यह महत्त्वपूर्ण है। अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं यह कह रही हूँ, क्योंकि अचानक... जब नींद के पर्याप्त घण्टे होते हैं (एक घण्टा, दो घण्टे, निर्भर करता है) उस दौरान वातावरण बहुत स्पन्दित रहता है, उस प्रकाश-शक्ति-हर्ष से भरपूर रहता है जिसके बारे में मैंने अभी उस दिन कहा था, और देखो तुम... तुम उससे पूरी तरह भर जाते हो, एकदम लबालब, और फिर, अचानक *(अन्दर डुबकी लगाने की भंगिमा)*, कुछ समय बाद तुम अपने-आपसे पूछते हो, "हाँ, हाँ, भला मैं कहाँ होकर आया?..." ऐसे काल होते हैं जब तुम एक तरह की नींद में चले जाते हो। पहले तो कई एक बार मैंने सोचा कि मैं अचेतना में चली

गयी हूँ (हालाँकि मेरे साथ ऐसा विरले ही हुआ है!), लेकिन बहरहाल, मैं सोचा करती थी कि इसका क्या अर्थ है। फिर मैंने इस पर अच्छी तरह ग़ौर किया और मैंने देखा कि आत्मसात् करने के लिए यह आवश्यक काल था। यह बहुत ही आवश्यक है। कोशिकाओं की चेतना की एक तरह की अचञ्चलता में ही नयी शक्ति अन्दर आती है। तो जब यह आये तो प्रतिरोध मत करो। सामान्यतया, यह चीज़ बहुत समय तक नहीं बनी रहती: पन्द्रह मिनट, बीस मिनट। आत्मसात् करने की अवधि। जानते हो, उस समय वातावरण शक्ति से भर जाता है, भर जाता है, पूरी तरह भर जाता है। तो अगर कभी तुम्हें लगे कि कोई चीज़ तुम्हें खींच रही है, विरोध मत करो, अपने-आपको नींद में जाने दो—ज़्यादा अच्छा है कि उस समय खड़े न रहो!

१५ *नवम्बर १९६५* *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

बारह साल की अवधि

मैंने देखा है कि बारह साल की अवधि के बीच मैं विकास के कई स्तरों से गुज़री—ठीक-ठीक तारीख़ें मुझे याद नहीं हैं। आरम्भ हुआ था जब मैं पाँच साल की थी, (पाँच से पहले मैं शुरू नहीं कर सकती थी!) तब से अठारह साल तक मैं सचेतन होती रही। और तब आया समस्त कलात्मक तथा ओजस्वी काल, और उसका समापन हुआ तेओं के साथ गुह्य विकास में (मेरे ख़याल से मैं तेओ से १९०५ या १९०६ में मिली थी)। और प्रायः इसी काल में मेरा तीव्र मानसिक विकास भी आरम्भ हो गया—१९०८ से कुछ पहले से लेकर १९२० तक; लेकिन १९१४ में यहाँ आने से पहले यह विशेष रूप से भावप्रवण था।

१९२० में पूर्ण विकास की मुहर लग गयी थी। आध्यात्मिक विकास नहीं—वह तो आरम्भ से ही चल रहा था — बल्कि **कार्य** का पूर्ण विकास, श्रीअरविन्द के साथ कार्य। यह स्पष्ट रूप से १९२० से आरम्भ हुआ; मैं श्रीअरविन्द से पहले भी मिली थी, लेकिन सचमुच कार्य शुरू हुआ था १९२० से[१]

[१] जब श्रीमाँ १९२० में जापान से हमेशा के लिए पॉण्डिचेरी आ गयी थीं।

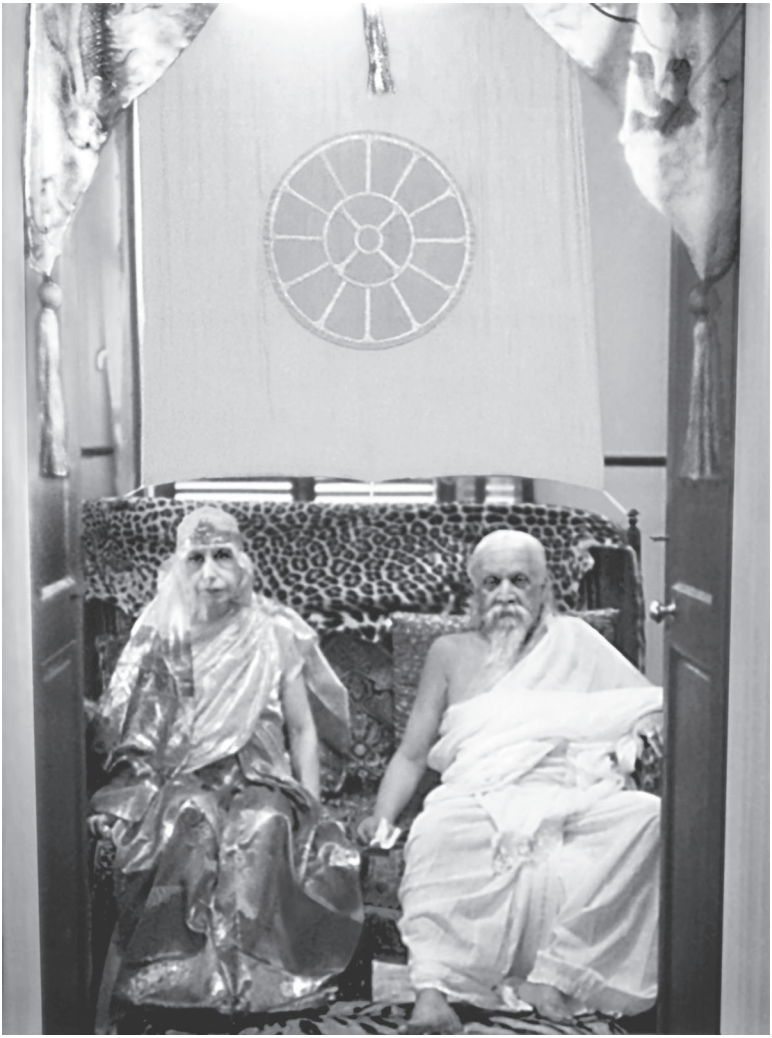

mothersriaurobindo
is my refuge

माँ-श्रीअरविन्द मेरी शरण हैं

प्रारम्भिक अन्तर्दर्शन और अनुभूतियाँ

जब रामकृष्ण साधना कर रहे थे, तब अपने बचपन के पहले आठ साल—१८७८ से १८८६ तक—माँ भी धरती पर भौतिक रूप से उपस्थित थीं। क्या वे जानते थे कि श्रीमाँ धरती पर उतरी हैं? उन्हें श्रीमाँ के उतरने का कुछ अन्तर्दर्शन तो ज़रूर हुआ होगा, लेकिन हम कहीं भी इसके बारे में पढ़ते नहीं हैं। और जब रामकृष्ण माँ काली को उत्कण्ठा से पुकार रहे होंगे तब माँ ने ज़रूर उस उम्र में कुछ अनुभव किया ही होगा।

माँ ने बचपन के अपने अन्तर्दर्शनों में मुझे देखा जिसे वे "कृष्ण" के नाम से जानती थीं—उन्होंने रामकृष्ण को नहीं देखा।

यह ज़रूरी नहीं था कि रामकृष्ण को माँ के धरती पर उतरने का अन्तर्दर्शन प्राप्त होता, क्योंकि वे भविष्य के बारे में नहीं सोच रहे थे, न सचेतन रूप से उसके लिए तैयारी ही कर रहे थे। मुझे नहीं लगता है कि श्रीमाँ के अवतार-रूप के बारे में रामकृष्ण कुछ जानते थे।

*

श्रीमाँ की साधना छोटी उम्र से ही आरम्भ हो गयी थी। जब वे १२ या १३ वर्ष की थीं तब प्रत्येक सन्ध्या अनेक गुरु उन्हें विविध आध्यात्मिक साधना सिखाने के लिए आते। उनमें से एक साँवली एशियाई आकृति थी। जब हम पहले-पहल मिले, तब उन्होंने तुरन्त साँवली एशियाई आकृति के रूप में मुझे पहचान लिया जिसे वे बहुत पहले देखा करती थीं। श्रीमाँ यहाँ आयें और एक समान लक्ष्य के लिए मेरे साथ कार्य करें, यह मानों एक भागवत विधान था।

भारत आने के पहले ही श्रीमाँ बौद्ध योग और गीता-योग में सिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। उनका योग एक भव्य समन्वय की ओर बढ़ रहा था। उसके बाद यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ आयें। मेरे योग को ठोस रूप देने में उन्होंने सहायता की है और निरन्तर कर रही हैं। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव नहीं हो पाता।

इस योग के दो बड़े चरणों में से एक है, श्रीमाँ की शरण में जाना।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ३६

माताजी की सन् १९१४ की कुछ ऐसी प्रार्थनाएँ हैं जिनमें वे रूपान्तर और अभिव्यक्ति की बात करती हैं। क्योंकि वे उस समय यहाँ नहीं थीं, तो क्या इससे यह मतलब नहीं निकलता कि यहाँ आने से बहुत पहले ही उनके अन्दर ये विचार थे?

माताजी अपनी युवावस्था से, यहाँ तक कि बाल्यावस्था से लेकर हमेशा आध्यात्मिक रूप से सचेतन थीं और भारत आने से बहुत पहले ही वे साधना करके यह ज्ञान विकसित कर चुकी थीं।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ६०१

माँ का संगीत

संगीत का ज्ञान होने से ही संगीत की समझ नहीं आ जाती *(श्रीमाँ के संगीत के बारे में)*; न ही यह मन का प्रयास है—आन्तरिक रूप से अचञ्चल रह कर, अन्दर से उद्घाटित हो कर और सहज रूप से अनुभव करने पर ही कि उस संगीत में क्या है, तुम उसे सचमुच समझ सकते हो।

*

मुझे अपने अन्दर संगीत के प्रति एक झुकाव का अनुभव होता है, लेकिन मैं सामञ्जस्य, लय और ताल के बारे में कुछ भी नहीं समझता। फिर भी, कभी-कभी जब मैं श्रीमाँ का संगीत सुनता हूँ तब मैं मुग्ध हो जाता हूँ, समय का सारा ज्ञान खो बैठता हूँ।

संगीत के पीछे क्या है इसके लिए तकनीकी ज्ञान होना ज़रूरी नहीं है। माँ निश्चित रूप से, संगीत के तकनीकी प्रभाव के लिए नहीं, बल्कि उच्चतर स्तरों से कुछ उतार लाने के लिए संगीत बजाती हैं और जो भी उद्घाटित हो, उसे ग्रहण कर सकता है।

जब मैंने माँ के कमरे में प्रवेश किया, माँ काफ़ी समय तक संगीत बजा कर, तभी रुकी ही थीं—इसीलिए मैंने यह आशा नहीं की कि वे मेरे लिए बजायेंगी।

माँ बचपन से ही निरन्तर संगीत बजाया करती हैं—इसलिए उनके लिए

कई बार बजाने में भी कोई दिक़्क़त नहीं है।

> *माँ का संगीत सुन कर मेरा मन हर्ष से लबालब क्यों भर जाता है? आज जब वे बजा रही थीं, उनका संगीत सुनते समय मेरा मन, मेरा हृदय, मेरी सारी चेतना शान्ति, हर्ष से पूरी तरह भर कर ऊपर कहीं उच्च स्तर पर पहुँच गयी।*

इन सब चीज़ों को नीचे उतारने के अलावा माँ का संगीत और है क्या? वे केवल संगीत के लिए संगीत नहीं बजातीं, बल्कि 'दिव्य चेतना' और उसकी 'शक्तियों' को नीचे उतारने के लिए संगीत द्वारा टेर लगाती हैं।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ५७१-७२

दुःखी मत होओ, अपने को सुधारो

वैसे तो मैं किसी सामान्य बच्चे की तरह ही थी, बस फ़र्क यही था कि मुझे सम्हालना मुश्किल था, इस अर्थ में मुश्किल कि मुझे न खाने-पीने में रस था, न सामान्य खेल-कूद में मेरी रुचि थी, नाश्ते-पानी के लिए न मुझे अपनी दोस्तों के घर जाना रुचता था क्योंकि केक इत्यादि में मेरी कोई दिलचस्पी ही नहीं थी। और मुझे दण्ड देना भी असम्भव था क्योंकि मुझे किसी चीज़ से कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता था : मिठाई से वञ्चित करना तो मेरे लिए राहत की साँस होता! और पढ़ना सीखने से तो मैंने साफ़ मना कर दिया था। यहाँ तक कि नहाना भी मेरे लिए भारी पड़ता था, क्योंकि मेरी देखभाल करने के लिए जिन अंग्रेज़ महिला को रखा गया था वे मुझे ठण्डे पानी से नहलाती थीं—मेरा भाई चूँ-चपड़ तक नहीं करता था, लेकिन मैं घर सिर पर उठा लेती! बाद में पता लगा कि ठण्डा पानी मेरे लिए हानिकर था (चिकित्सक ने ऐसा कहा), लेकिन यह बहुत बाद की बात है। तो तुम समझ रहे हो न!

लेकिन जब कभी अपने रिश्तेदारों या मित्रों के साथ मेरी अनबन हो जाती, मैं उस अप्रियता और दुर्भावना को अनुभव करती—उन सभी अशुभ चीज़ों को जो इस सबके साथ आती हैं (मैं काफ़ी संवेदनशील थी, क्योंकि मैं हमेशा अपने अन्दर सौन्दर्य तथा सामञ्जस्य को पोसा करती थी, और जीवन की सभी आम परिस्थितियाँ उसका विरोध करती दीखती थीं)...

तो जब कभी मैं उदासी का अनुभव करती, मैं इस बारे में बहुत सावधान रहती कि अपने माता-पिता से कभी इस बारे में कुछ नहीं कहूँ, क्योंकि मेरे पिता इस पर कान नहीं देते थे और माँ ऐसी बातों पर मुझे डाँट दिया करती थीं, क्योंकि उनके लिए यह सब मेरी कपोल कल्पनाएँ थीं जिन्हें वे कभी बढ़ावा नहीं देना चाहती थीं। तो मैं अपने कमरे में चली जाती, अपनी छोटी-सी आरामकुर्सी पर बैठ जाती, और फिर मैं एकाग्र होकर समझने की कोशिश करती... अपने ही तरीक़े से। और मुझे याद है कि शायद बहुत सारी असफल कोशिशों के बाद आख़ीर में मैं इस नतीजे पर पहुँची कि "देखो, तुम इसलिए उदासी का अनुभव कर रही हो क्योंकि फ़लाने ने... ढिमाके ने... तुम्हें बहुत चुभने वाली बात कही—लेकिन इससे तुम्हें क्यों रोना आ गया? तुम इतनी उदास क्यों हो? बुरा तो उसे लगना चाहिये, वह बुरा बना, तो रोना तो उसे चाहिये। तुमने तो उसके साथ कोई बुरा व्यवहार नहीं किया... क्या तुमने उसे अपशब्द कहे? क्या तुमने इसके या उसके साथ झगड़ा किया? नहीं, तुमने कुछ नहीं किया, किया क्या; हाँ, तो तुम्हें दुःखी होने की कोई ज़रूरत नहीं। अगर तुमने कुछ बुरा किया होता तो तुम्हारा दुःखी होना उचित हो सकता था, लेकिन... " तो इससे बात ख़तम हो जाती। मैं कभी नहीं रोती। बस थोड़ा-सा अन्दर मुड़ने या किसी "ऐसी चीज़" पर कान देने की ज़रूरत होती जो कहती, "तुमने कोई ग़लत काम नहीं किया", तो कोई दुःख तुम पर छायेगा ही नहीं।

लेकिन इस "किसी चीज़ का" दूसरा पहलू भी था: वह मुझ पर अधिकाधिक निगरानी रख रही थी, और अगर कहीं मेरे मुँह से कोई शब्द निकल जाता या कोई क्रिया हो जाती, दुर्भावना का हलका-सा भी विचार सिर में फुदक उठता, भाई को छेड़ती या ऐसा कुछ भी करती, छोटी-से-छोटी चीज़ भी, वह 'कोई चीज़' *(माताजी गम्भीर हो जाती हैं)* कहती, "सावधान, अपने ऊपर नज़र रखो!" पहले मैं इस पर पिनकती थी, लेकिन धीरे-धीरे इस चीज़ ने मुझे यह पाठ पढ़ा दिया कि "दुःखी मत होओ, चीज़ों को ठीक करो, सुधारो!" और अगर सुधार हो सकता—वैसे तो हमेशा ही सब कुछ सुधारा जा सकता है—मैं सुधार लेती। यह सब पाँच से सात साल के बच्चे की बुद्धि के माप से होता।

२५ जुलाई १९६२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

दैनन्दिनी

फ़रवरी

१. तुम्हें हमेशा जाग्रत्, हमेशा सचेतन और हमेशा प्रदीप्त ग्रहणशीलता और सद्भावना से भरा रहना चाहिये।

२. मेरे बच्चे, तुम हमेशा मेरी बाँहों में होते हो, मेरे प्रेम में स्नान करते हो जो सब तरह के आक्रमणों के आगे सबसे प्रबल सुरक्षक होता है। अपनी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखो और हम सभी कठिनाइयों में से विजयी होकर निकलेंगे।

३. सब कुछ अन्दर से शान्ति के साथ करना चाहिये—काम करना, बोलना, पढ़ना, लिखना सच्ची चेतना के अंश के रूप में करना चाहिये—सामान्य चेतना के बिखरे हुए और अशान्त क्रिया-कलाप या गतिविधि के साथ नहीं।

४. सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो हमेशा साहस से भरी रहती है।

५. यौवन है—सतत विकास और अविच्छिन्न प्रगति। और है क्षमताओं का, सम्भावनाओं का विकास, कर्मक्षेत्र का विकास और चेतना का प्रसार, तथा समस्त ब्योरों की उपलब्धि की ओर प्रगति।

६. जो कुछ पढ़ा गया है उसे तुम्हें अपने अन्दर प्रवेश करने देना चाहिये, और फिर, उसे अपने अन्दर काम करने देना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो तुम्हें नीरव, स्थिर-शान्त रहना चाहिये।

७. मन की निश्चल-नीरवता का अभ्यास करो, यह समझने की शक्ति देती है।

८. जिस क्षण हम अपने बारे में सोचना शुरू कर देते हैं और अपने में ही व्यस्त होकर जीते हैं, उस क्षण से हमारा हर्ष अपनी तीव्रता खो बैठता है और जितना अधिक हम आत्म-केन्द्रित होते हैं, स्वयं हर्ष ही लुप्त हो जाता है।

९. अपने काम पर एकाग्र होओ—इसी से तुम्हें बल मिलता है।

१०. *(एक विद्यार्थी से)* अगर तुम नियमित रूप से दिन में आठ-नौ घण्टे

काम करो तो तुम्हें भूख लगेगी। तुम अच्छी तरह से खाओगे और शान्ति से सोओगे और तुम्हारे पास यह सोचने के लिए समय न होगा कि तुम अच्छी मनोदशा में हो या बुरी।

११. व्यक्ति सावधानी के साथ जो भी करे वह निश्चय ही मज़ेदार हो जाता है।

१२. अधिकतर मनुष्य यह चाहते हैं कि सभी मनुष्य उनकी प्रत्याशाओं के अनुकूल रहें और परिस्थितियाँ उनकी कामना के अनुसार ढलें—इसी कारण उन्हें दुःख उठाने पड़ते हैं और वे दुःखी रहते हैं।

१३. हमेशा सर्वोत्तम चाहना, हमेशा अच्छे-से-अच्छा और अपने-आपसे यह कभी न कहना, "ओह! वह थकाने वाला है! चलो, आराम कर लूँ, चलो, सुस्ता लूँ! आह, मैं प्रयास करना बन्द कर दूँगा"; तब यह निश्चित है कि तुम तुरन्त किसी छेद में जा गिरोगे और कोई बड़ी मूर्खता-भरी भूल कर बैठोगे।

१४. चिन्ता न करो, बस अपने अन्दर सदा चीज़ों को अच्छी तरह करने का संकल्प करो।

१५. दूसरों के दोषों को, उन्होंने क्या किया है और क्या नहीं किया, इसे मत देखो। तुमने स्वयं जो कुछ किया है और नहीं किया है, केवल उसी को देखो।

१६. जो कुछ तुम होना चाहते हो उसी पर पूर्ण रूप से एकाग्र होओ और जो कुछ तुम नहीं होना चाहते उसे यथासम्भव भूल जाओ।

१७. जब तुम किसी के बारे में कुछ अच्छी बात नहीं सोच सकते, उसके बारे में सोचो ही मत।

१८. रोग के आक्रमण से जल्दी पिण्ड छुड़ाने के लिए ज़रूरी है कि शान्त रहो, अचञ्चल रहो, परेशान न होओ, डरो मत, बेचैन और अधीर न होओ। 'भागवत कृपा' पर दृढ़, अचञ्चल विश्वास सबसे ज़्यादा ज़रूरी है।

मन की चिन्ता, प्राण की चञ्चलता और सभी चीज़ों की अपेक्षा स्वस्थ होने में ज़्यादा देर लगाती हैं।

१९. अगर तुम अपना काम पूरी सच्चाई के साथ, भगवान् के चरणों में अर्पित भेंट के रूप में करो तो काम उतना ही लाभ पहुँचायेगा

जितना ध्यान।

२०. साहसी बनो और अपने बारे में अधिक न सोचो। तुम दुःखी और असन्तुष्ट इसलिए रहते हो क्योंकि तुम अपने छोटे से अहंकार को अपनी तन्मयता का केन्द्र बना लेते हो।

२१. हर जगह असामञ्जस्य है, लेकिन तुम्हें उसे अस्वीकार करके केवल सामञ्जस्य को ही अपने अन्दर पैठने देना चाहिये।

२२. सबसे पहली चीज़ होनी चाहिये 'शान्ति'। तुम जो कुछ करो उसे शान्तिपूर्ण तरीक़े से करना चाहिये।

२३. प्रत्येक दिवस, प्रत्येक क्षण नये और अधिक पूर्ण समर्पण के लिए एक अवसर होना चाहिये—गभीर और नीरव समर्पण का, जो दिखायी तो न दे किन्तु जो गहरे पैठ कर समस्त कार्य को रूपान्तरित कर दे।

२४. हर एक व्यक्ति में आत्म-अनुशासन का भाव होना चाहिये और उसे उसका सचमुच अभ्यास करना चाहिये।

२५. शंका, अवसाद और दूसरी ऐसी प्रवृत्तियों को दूर फेंक दो जो तुम्हारी सच्ची और उच्चतर प्रकृति का अंग नहीं हैं।
अपनी आत्मा की ज्योति के प्रति तब भी निष्ठावान् बने रहो जब वह बादलों से घिरी हो।

२६. अवतरण सभी कठिनाइयों पर विजय पा लेगा क्योंकि अवतरण का अर्थ ही है, सभी कठिनाइयों पर विजय।

२७. सच कहा जाये तो यदि तुम एक क्षण, एक छोटा-सा क्षण चरम अभीप्सा में या पर्याप्त तीव्र प्रार्थना में जी लो तो तुम घण्टों ध्यान करके जितना जान सकते हो उससे कहीं अधिक जान लोगे।

२८. हे भगवती माँ, उदात्त मित्र, अद्‌भुत गुरु, गभीर नीरवता में मैं तेरी वन्दना करती हूँ।

एक घड़ी अशुभ काम में,
अशिव विचार में
बिताने का अर्थ है, हृदय में संग्रहित
वैभव को नष्ट करना।

—'मधु-सञ्चय' से साभार

माँ के साथ एक पत्राचार

(भवन-निर्माण के एक साधक का)

मधुर माँ,

आज रात तक मैंने जितने भी दुःख-दर्द सहे हैं, वे मधुर माँ के आगे संकोच के कारण हैं। क्या मेरा निदान ठीक है? अगर हाँ, तो मैं मधुर माँ की बात काटे बिना या उन्हें उलझन में डाले बिना इन संकोचों को कैसे दूर कर सकता हूँ?

मैं पहले तुम्हें एक छोटी-सी कहानी सुनाने से शुरू करती हूँ। उत्तर बाद में दूँगी।

तुमने वह नयी घड़ी देखी होगी जिसके लिए कहा जाता है कि उसे छः महीने चलना चाहिये। जब उसे पहले-पहल चलाया गया तो वह बहुत तेज़ दौड़ती थी। 'क' ने तरकीब निकाली कि उसे कैसे ठीक किया जाये और उसने एक तरह का पेंच देखा जिसे लोलक को लम्बा या छोटा करने के लिए काम में लाया जाता है। मैंने अपनी *अन्तर्दृष्टि* से घड़ी को देखा और 'क' से कहा, "इसकी गति को धीमा करने के लिए तुम्हें इसके लोलक को ज़रा छोटा कर देना चाहिये।" उसने चकराये हुए भाव से मेरी ओर देखा और फिर मुझे समझाया कि यान्त्रिकी में लोलक जितना लम्बा हो, गति उतनी ही धीमी होगी। (मुझे यह बात अच्छी तरह मालूम थी लेकिन यह साधारण लोलक न था, वह रोटरी-गति से चलता था)। जैसा कि मैं हमेशा करती हूँ, मैंने उत्तर दिया, "जो तुम्हें ठीक लगता है वही करो।" उसने लोलक को लम्बा कर दिया और घड़ी और भी तेज़ हो गयी। एक दिन तक देखने के बाद वह सहमत हो गया कि लोलक को छोटा करना चाहिये और अब घड़ी बिलकुल ठीक चल रही है। मैं बाहरी दृष्टि की अपेक्षा आन्तरिक दृष्टि की श्रेष्ठता पर विश्वास करती हूँ और यह विश्वास केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पर नहीं बल्कि उन हज़ारों उदाहरणों पर निर्भर है जो मेरे इस लम्बे जीवन में मेरे सामने आये हैं। दुर्भाग्यवश मैं ऐसे लोगों से घिरी हूँ जो यहाँ हैं तो योगाभ्यास के लिए परन्तु जिन्हें विश्वास है, एक फ्रेंच मुहावरे के अनुसार कि "बिल्ली बिल्ली ही है," और यह कि हम

देखने और अवलोकन करने के लिए केवल भौतिक आँखों पर और निश्चय और निर्णय करने के लिए अपने भौतिक मानसिक ज्ञान पर ही निर्भर कर सकते हैं, और यह कि प्रकृति के विधान *विधान* हैं—दूसरे शब्दों में, उनमें कोई अपवाद चमत्कार ही हो सकता है। यह ग़लत है।

सारी ग़लतफ़हमियों और संकोचों की जड़ में यही है। तुम पहले से ही जानते हो और मैं केवल तुम्हें याद दिलाने के लिए फिर से कह रही हूँ कि संकोच और शंका के भाव से किया गया परीक्षण परीक्षण नहीं होता और बाहरी परिस्थितियाँ हमेशा इन सन्देहों को उचित ठहराने के लिए षड्यन्त्र रचती रहेंगी, और इसका कारण आसानी से समझा जा सकता है : सन्देह चेतना को और अवचेतन सच्चाई को ढक देता है और काम में कुछ ऐसी छोटी-मोटी चीज़ें घुस आती हैं जो महत्त्वहीन दीख सकती हैं लेकिन जो समस्या के सभी घटकों को इस तरह बदल देने के लिए काफ़ी हैं कि ऐसे परिणाम को ले आयें जिसका सन्देह के कारण पूर्वाभास मिला था।

मुझे इसके सिवा और कुछ नहीं कहना। जब 'क' के कमरे में 'डिस्टेरपर' करने की बात उठी तो मैंने आन्तरिक चक्षु से सावधानी के साथ कई बार यह देखा : एक लोहे के बुरुश से दीवारों को साफ़ करो ताकि जो कुछ ढीला है वह गिर जाये और बाक़ी को 'डिस्टेम्पर' की मोटी तह से ढक दो। वह अपनी मोटाई के कारण अनियमितताओं को ढक देगी। प्रक्रिया आसान, तेज़ और पूरी तरह सन्तोषजनक मालूम होती थी। मैंने आवश्यक शक्ति भर दी ताकि वह प्रभावकारी रूपायण बन जाये जिसमें चरितार्थ होने की सामर्थ्य हो और मैंने कहा कि काम शुरू हो सकता है। वह कैसे किया जाये इस विषय में भी कुछ शब्द जोड़ दिये। (यह बहुत पहले की बात है—जब पहली बार 'क' के कमरे की दीवारों पर 'डिस्टेम्पर' करने का निश्चय किया गया था, शायद एक वर्ष से अधिक हो गया।) मेरा रूपायण इतना जीता-जागता, इतना वास्तविक और सक्रिय था कि मैं यह भूल कर बैठी कि काम शुरू होने से पहले तुम्हें उसकी याद नहीं दिलायी। मेरे अन्दर एक खेदजनक प्रवृत्ति है कि मैं मान लेती हूँ कि मेरे इर्द-गिर्द के लोगों में भी कम-से-कम आंशिक रूप में और अपने सीमित दायरे में वैसी ही चेतना है जैसी मेरी है। मैं समझाऊँगी। मैं जानती हूँ कि मेरी चेतना की तुलना में तुममें से प्रत्येक की चेतना बहुत कम और

सीमित है। मुझे यह भ्रम रहता है कि उसकी *प्रकृति* मेरे जैसी ही है, चाहे है अपनी सीमाओं में, इसलिए बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं जो मैं नहीं कहती, क्योंकि मेरे लिए वे *इतनी स्पष्ट* होती हैं कि उनका ज़िक्र करना बिलकुल बेकार होगा। यहाँ तुम्हारी ओर से प्रेममय विश्वास से उठती हुई क्रिया और वाणी की स्वाधीनता आनी चाहिये : अगर कोई ऐसी चीज़ है जिसके बारे में तुम अनिश्चित हो तो तुम्हें उसके बारे में मुझसे पूछना चाहिये; अगर तुम *बहुत स्पष्ट रूप से मेरा अभिप्राय नहीं देख पाते* तो तुम्हें उसके बारे में पूछना चाहिये; अगर तुम मेरे रूपायण को एकदम ठीक-ठीक नहीं पकड़ पाते तो तुम्हें समझाने के लिए मुझसे कहना चाहिये। जब मैं ऐसा नहीं करती तो इसका कारण यह होता है कि मैं समझती हूँ कि तुम रूपायण के बारे में काफ़ी ग्रहणशील हो जिससे कि वह मेरे बोले बिना क्रिया कर सकता और सफल हो सकता है, और वस्तुतः ऐसा बहुत बार होता भी है। केवल जब मन और प्राण किसी-न-किसी कारण से बीच में आते हैं तब क्रिया त्रुटिपूर्ण हो जाती है। इसे सावधानी से पढ़ो, इसका अध्ययन करो, और आज जब तुम आओगे तो मैं तुमसे वहाँ से पढ़ कर सुनाने के लिए कहूँगी जहाँ मैंने लाल निशान लगाया है, मेरा ख़याल है कि यह वहाँ बैठे सभी लोगों के लिए उपयोगी होगा। सम्भव है मैं तुमसे अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के लिए भी कहूँ *(श्रीमाँ के सभी वार्तालाप फ़्रेंच में हैं—सं.)* ताकि मुझे विश्वास हो जाये कि तुम इसे अच्छी तरह समझ गये हो।

शान्ति तुम्हारे साथ रहे—मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ।

७ जून १९३४ **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १६, पृ. ४५-४८

आओ, हम प्रार्थना की तरह कार्य करें, क्योंकि वस्तुतः कार्य ही भगवान् के प्रति की गयी शरीर की उत्तम प्रार्थना है। श्रीमाँ के प्रति हमेशा उद्घाटित रहने का अर्थ है कि हमेशा शान्त, प्रसन्न और विश्वस्त रहो, अन्दर कोई व्यग्रता, दुःख या निराशा न हो, उन्हीं की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने दो, तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने दो, वही तुम्हें विद्या दे, शान्ति और आनन्द दे। अगर तुम अपने-आपको उद्घाटित न रख सको तो निरन्तर, लेकिन बेचैनी के बिना, शान्ति के साथ इसकी अभीप्सा करते रहो कि तुम उद्घाटित हो सको। ***श्रीअरविन्द***

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

गुरु तथा शिष्य

क्या गुरु जान सकते हैं कि उनका शिष्य कैसा है और उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ कैसी हैं?

नवजात—सच्चे, सिद्ध गुरु को यह सब मालूम होना चाहिये।

अन्यथा क्या शिष्य को यह सब बता देना चाहिये या गुरु को स्वयं ही जानना चाहिये?

नवजात—शिष्य को अपना सब कुछ गुरु के आगे खोल कर रख देना चाहिये। जब गुरु के आगे शिष्य कुछ कहता है तो तीन बातें होती हैं। पहली यह कि गुरु के और उसके बीच की दीवार टूट जाती है और गुरु की कृपा और चेतना का प्रवाह उसकी ओर अधिक बहता है। दूसरे, इस प्रकार की स्वीकारोक्ति—तुम उसे भगवान् के आगे स्वीकारोक्ति कहो या गुरु के आगे—इसका सभी धर्मों में भूतकाल को धो देने के लिए आदेश दिया जाता है। मुझे इस पर पूरा विश्वास है। मुझे ज़रा भी शंका नहीं है कि इससे एक प्रकार की शुद्धि हो जाती है। यह हुआ दूसरा लाभ।

तीसरा और सबसे बड़ा लाभ है, भागवत कृपा का आह्वान करना, जो केवल भूतकाल को ही नहीं धो डालती, और न केवल तुम्हें मज़बूत ही बना देती है बल्कि, तुम्हारे कुकर्मों के फल को भी धो डालती है; एक ऐसी कृपा जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने की ज़िम्मेदारी लेती है और तुमको आदतों से छूटने में सहायता देती है। जैसा कि मैंने कहा, यह स्वयं को खोलने या स्वीकारोक्ति करने या एक तरह से अपने गुरु के आगे अपनी समस्याओं को खोल कर रखने का बड़ा लाभ है। अगर तुम कुछ चीज़ उनसे छिपाना चाहते हो तो इसका मतलब है कि अपने किसी कोने को तुम अँधेरे में रखना चाहते हो, उससे तुम पिण्ड नहीं छुड़ाना चाहते। तुम्हारा एक भाग उससे मुक्त होना चाहता है और कोई और भाग है जो

उससे मुक्त होना नहीं चाहता। इसी कारण मानव व्यवहार को समझना और बदलना बहुत कठिन है।

... भगवान् को कैसे पाया जा सकता है?

नवजात—इसकी पद्धति होती है और वह है योग। और पूर्ण अनुभूति के लिए चाहिये पूर्णयोग।

हम यह कैसे जान सकते हैं कि हम उपलब्धि या आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार या उसके योग्य हैं?

नवजात—कोई भी शुरू से तैयार नहीं होता। लेकिन उसका एक अंश तैयार हो सकता है और वहीं से आरम्भ हो सकता है। और फिर हमें वर्तमान अवस्थाओं में सर्वोत्तम करने का प्रयास करना चाहिये और यह काफ़ी अच्छा हो सकता है। अगर हम अपना सर्वोत्तम करें तो हम कुछ अच्छे हो सकते हैं, फिर और प्रयास करें तो और अच्छे हो सकेंगे—यह हमेशा बढ़ती हुई गति होगी। यही चिन्ता न करो कि तुम तैयार हो या नहीं, तुम्हारे अन्दर यह भाव होना चाहिये कि भागवत उपस्थिति तुम्हारे अन्दर है, कि भागवत बीज तुम्हारे अन्दर है। और यह निर्विवाद है कि भागवत चेतना का यह वृक्ष फूले-फलेगा क्योंकि बीज भागवत है। बीच में समस्याएँ आ सकती हैं पर बीज बहुत शक्तिशाली है। तुम कह सकते हो, "अगर मैं उसके साथ सहयोग करूँ तो बाधाएँ हटा दी जायेंगी। मुझे अपनी सभी दुर्बलताओं, त्रुटियों, दृढ़ता के अभाव, चेतना की कमज़ोरी के होते हुए अन्तर्यामी के प्रति समर्पण कर देना चाहिये। जो मेरे अन्दर उपस्थित है, मैं उसके साथ एक हो जाऊँ और उसी पर विश्वास रखूँ। बस अपना अच्छे-से-अच्छा करूँ।" इतना काफ़ी है।

... मैं अपनी कमज़ोरियों के बारे में बहुत ईमानदार हूँ, मैंने कई ग़लत चीज़ें की हैं, मेरी अपनी दुर्बलताएँ हैं जिन्हें मैं नहीं छोड़ पाता। क्या फिर भी मैं भगवान् की ओर अभिमुख हो सकता हूँ?

नवजात—भगवान् इन सब चीज़ों का लेखा-जोखा नहीं देखते। वे भगवान् हैं, तुम उन्हें चाहे जिस रूप में पूजो वे भगवान् हैं। उनके लिए इन चीज़ों का कोई मूल्य नहीं है। तुम्हारी समस्याएँ जितनी बड़ी हों उतना ही उन्हें तुम्हें उठाने में मज़ा आता है, बशर्ते कि तुम उठने के लिए तैयार हो। अगर तुम उनसे प्रार्थना करो कि भगवन्, आप मेरे जीवन का दायित्व ले लीजिये तो वे तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। हो सकता है कि वे तुम्हें दो चपत लगाएँ और फिर तुमको अपना लें। ऐसा पहले भी हो चुका है! एक बार वे तुमको अपना लें तो वे तुमको छोड़ेंगे नहीं। लेकिन यह सब बाहरी कर्मों पर निर्भर नहीं होता। यह केवल तुम्हारी आत्मा की अभीप्सा पर निर्भर होता है।

(क्रमशः) —नवजातजी

मधुर माँ,

मैंने अभी-अभी सुना कि यद्यपि गुरु के समस्त अवयवों से 'कृपा' बहती है (जैसे आँख, हाथ से) लेकिन चरणों से जो चीज़ प्रवाहित होती है वह सबसे अधिक ऊर्जाशील तथा अनुकम्पा से भरी होती है। कहा जाता है कि इसी कारण भारतीय परम्परा में चरण छूने का रिवाज है। क्या यह सच है?

यह रहा तुम्हारे प्रश्न का श्रीअरविन्द के शब्दों में उत्तर :

पड़ती जहाँ-जहाँ पद-छाप जगज्जननी की
बहने लगतीं नदियाँ अद्‌भुत
उल्लासभरा आनन्द लिये। —*'माता'* पुस्तक से

मूक है प्रकृति पर टेरती है उसी को
हर लो अपनी चरण-रज से जननी
जीवन की पीड़ाभरी धड़कनों को। —*'सावित्री'* से
आशीर्वाद।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ५०२

आम वाली माँ

राह में फूल-बताशे बिखरे हुए थे। बच्चों और युवकों को सिक्के लूटने में अधिक मज़ा आ रहा था। बताशे छोटे बच्चों के लिए छोड़ते हुए वे आगे बढ़ जाते। युवक सिक्के जेब में रख "रामनाम सत्य है" की टेर में शामिल होते जाते। मुक्तिधाम पहुँच कर अब सभी बारी-बारी से शमित मन से, नज़रों में नमी और उदासी का भाव धारण किये अपने-अपने गुट में बैठ ध्यानमग्न हो गये। कुछ बुज़ुर्ग और उत्साही युवक, जिन्होंने सुख-दुःख की सीमा लाँघ उसे आत्मसात् कर लिया था, बूढ़ी काया को ज़र्मीदोज़ करने की रागात्मक कार्यवाही में लीन हो गये।

बूढ़ी काया को कब किस क्षण उसके चैतन्य ने त्याग दिया था किसी को इसका पता ही नहीं चला। हाँ! मोहल्ले के कुछ लड़के अवश्य ही यह खुसुर-पुसुर कर रहे थे कि आम वाली बूढ़ी माँ भिनसारे से पहले ही मर गयी होगी क्योंकि जब वे रात्रि के प्रथम प्रहर में दबे पाँव घुसे थे तब बुढ़िया ने अँधेरे में ही उन लोगों की टोह ले ली थी और फिर धारा-प्रवाह पूर्वजों-प्रपूर्वजों से प्रारम्भ करते हुए वर्तमान से भविष्य तक की कई पीढ़ियों के रिश्तों को तथ्यपरक भावोद्रेक से याद किया था और वे उलटे पाँव वहाँ से भागे थे। पर, जब वे मुँह अँधेरे बाग़ में अन्दर हुए थे तब रंगीले को ज़ोरदार छींक भी आयी थी पर बिना किसी व्यवधान के अपना काम कर वे अपने-अपने घर आ गये थे और आज उनकी माताओं ने उनकी करतूत पर ढेरों दुआएँ दी थीं। आज उनके यहाँ इस वर्ष के लिए अचार का भरपूर इन्तज़ाम हो गया था।

बूढ़ी काया को ठिकाने लगा, वापसी की यात्रा में बड़े-बूढ़े मशग़ूल थे कि बूढ़ी माँ ने कितने जतन से वृक्षों को बड़ा किया था। आज एक-एक पेड़ ढेरों फलों से लदा था। आज से बीस वर्ष पूर्व जब वह विधवा हो गयी थी उसके सगे बेटों ने अपनी-अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर उससे किनारा कर लिया था। बुढ़िया के हिस्से में एक दालान और खुला आँगन बचा था। कुआँ था वह भी आज उसी की तरह जर्जर हो गया था जिसे उसने बड़े अरमान से, पति से ज़िद करके खुदवाया था कि घर में बहुएँ आयेंगी तो उन्हें पानी के लिए बाहर नहीं जाना पड़ेगा। आज वही कुआँ

उसके और उसके बग़ीचे का दुःख-सुख का साथी था।

आदतन बच्चे-बहू, घर-गृहस्थी में व्यस्त रहने वाली ममता को जब चैन नहीं मिला तो उसने एक रोग पाल लिया। विधवा की बरकत एवं प्रयास से इस बारिश में उसे कुछ आम के पौधे मिल गये। उसने उन्हें सूने आँगन की ज़मीन में एक रेख डाल कर कतारबद्ध गड्ढे बना कर रोप दिया। अब बूढ़ी माँ को खेत-खार से जो मिल जाता उसके ख़र्च-पाती के काम आता। वैसे बीमारी तो उससे दूर ही भागती थी पर कभी-कभार खाँसी-ज़ुकाम के लिए उसके पास जोसाँधे का काढ़ा हमेशा तैयार रहता। कहते हैं, बुढ़िया ने मरते दम तक किसी की सेवा नहीं ली और न ही आज के ज़माने की अंग्रेज़ी दवाइयों का कभी स्वाद चखा। उसका कहना था, ये जो तुलसी माँ हैं मेरे आँगन में इनकी दो पत्ती ही सारी व्याधियों को दूर रखती है और ये जो कण्ठ में तुलसी की माला है इसमें सालिगराम बसते हैं जो इन्सान की बुरे विचारों एवं बुरी आत्माओं से रक्षा करते हैं। कुएँ का ठण्डा जल निकालने और आम के पौधों पर सुबह-शाम डालने के कार्य में वह हमेशा व्यस्त रहती थी। बस अब यही उसकी पूजा-पाठ और ममत्व की ग्रन्थि के सन्तुष्टीकरण का व्यायाम था। जब भी कोई उधर से गुज़रता बुढ़िया उसे अपने पौधों को अवश्य दिखाती। यह देखो! यह क़लम से लगाया है, इसे ज़मींदार के बाग़बान ने दिया है, इसका फल सबसे बाद में पकता है। जब बारिश आ जाती है और अन्य सभी आम निझर जाते हैं, तब ही खाने में इसका स्वाद आता है; और हाँ! एक-एक फल इतना बड़ा होता है कि एक अकेला व्यक्ति पूरा आम नहीं खा सकता, पर तोड़ना चाहे तो एक छोटा-सा बच्चा भी इसे बैठे-बैठे तोड़ ले। फलों के भार से डाली इतनी झुक जाती है मानों माँ की गोद में बच्चा बैठ जाये, बस ऐसे ही धरती माँ पर इसके फल धर जाते हैं। यह लँगड़ा है, इसका स्वाद और महक गंगा-गोदावरी के मिश्रण जैसा है। इसका खट्टा-मीठा स्वाद सभी को बहुत भाता है। हाथ में ऐसे पकड़ में आ जाता है जैसे लड्डू, और बस पके आम को चुहक लो, जीवन-रस की तरह। ये हैं दशहरी, पकने पर चाशनी-जैसा मीठा होता है। इसे महाजन के रखवारे ने चोरी-छुपे मुझे दे दिया था। कच्चा तोड़ो तो कोई काम नहीं आता। हाँ, कच्चे का मज़ा तो यह घूरे से लाया गया पौधा ही देगा! शादी-ब्याह में भी अचार-चटनी की पुरौनी इन्हीं से हो पायेगी।

देसी आम की अँमिया बच्चों के लिए बड़ी ललचाने वाली होती है। वैसे है तो यह ईंट-पत्थरों से अपना ही छप्पर तुड़वाने का काम, पर जब ये बड़े हो जायेंगे तो इनके फल सभी के काम आयेंगे। नाती-पोते खाकर सुख मानेंगे। मुझ बूढ़ी को इन्हें सरग तो बाँध नहीं ले जाना।

अब आम की पौध मानुख-मानुख से भी ऊँची हो गयी थी, बूढ़ी माँ को बसन्त में एक-दो बौर भी देखने को मिल गये। शिवरात्रि पर्व में मोहल्ले, पड़ोस के लोगों ने एक-आध बौर शिवजी को अर्पण करने के लिए माँगे भी, पर बूढ़ी माँ ने साफ़ इन्कार कर दिया। मेरे आमों में एक-दो बौर क्या आये दहिजारों ने नज़र लगानी शुरू कर दी। जब फल लगेंगे तो पहला फल मैं अपने हाथ से अर्पण करूँगी शिवजी को। अगर मैं इस प्रकार सबको बाँटने लगी तो फल काहे में लगेगा। मिट्टी की भवानी तो टीका-टीका में ही समाप्त हो जायेंगी।

देखते-देखते पौधे पेड़ बन गये और अब इस बरस आम की भरपूर फसल आयी। बूढ़ी माँ के लिए अब मुसीबत हो गयी। कभी कोई बहू चटनी के लिए आम माँगने आ रही है, कभी कोई बच्चों को यह कह भेजती कि खट्टे-खट्टे आम खाने का मन हो रहा है, हमारे घर छोटा मुन्ना आने वाला है। किसी के यहाँ मायके से मेहमान आये हैं या फिर किसी के यहाँ बेटी के दिखवइया आने वाले हैं। बूढ़ी माँ को इन सबसे फ़ुरसत मिलती तो गाँव-भर के बच्चे इसी ताक में रहते कि कब सूना पायें और दीवाल फाँद कर टपके आम बीन ले जायें। बूढ़ी माँ को एक तरकीब सूझी। उसने अब अधिकतर समय आमों के नीचे ही गुज़ारना शुरू कर दिया। आराम से कोयल की मधुर कूक सुनती और घड़े का ठण्डा पानी पी, पेड़ों की ठण्डी छाया में अपनी पुरानी खटिया में लटकी रहती। कभी-कभार पेड़ों में पानी डालते मिल जाती या फिर साफ़-सफ़ाई करते। वैसे पेड़ अब पौधे नहीं रह गये जिन्हें पानी की आवश्यकता हो पर मन की ममता को बोध नहीं होता था। बूढ़ी माँ के लिए पेड़ अब बेटों से बढ़ कर थे। उसने जान लिया था कि सगे बेटों को बड़ा करने में जब उसने अपनी सारी उम्र खपा दी थी, उनसे इस बुढ़ापे में एक रोटी की आस नहीं है पर ये पेड़ तो कुछ ही वर्षों की सेवा से मुझे मीठे फल दे रहे हैं। अब मैं चाहे इनसे दान-पुन्य करूँ या मोहल्ले-पड़ोस में बाँटूँ, मेरी मरज़ी। मुझे इसी में सन्तोष है।

... और आज अन्तिम समय में सभी ने प्रत्यक्ष देखा था बूढ़ी माँ की काया नितान्त शान्त थी। उसमें सम्पूर्ण रूप से उसके दिल की ठण्डक व्याप्त थी। मुख पर अद्‌भुत सन्तोष की झलक स्पष्ट दिख रही थी। बूढ़ी माँ अब पूरे गाँव के लिए आम वाली माँ बन चुकी थी।

'विकास-संस्कृति' से साभार —ई.आनन्द प्रसाद गुप्ता

अन्तःकरण में आनन्द

जिस प्रकार दीपक दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है और अपने स्वरूप को भी प्रकाशमान रखता है, उसी प्रकार अन्तःकरण भी बाहर और भीतर ज्ञान का आलोक फैलाता है। एक दिन गाँववालों ने देखा कि परम विदुषी सन्त राबिया अपनी झोंपड़ी के बाहर कुछ ढूँढ़ रही है। उसकी मदद के लिए सारे लोग एकत्र हो गये। पूछा, "क्या ढूँढ़ रही हो?" वह बोली, "मेरी सूई खो गयी है, वही ढूँढ़ रही हूँ।" सुन कर सभी गाँववाले सूई ढूँढ़ने में लग गये। तभी किसी को ख़याल आया कि राबिया से पूछ लें कि सूई कहाँ गिरी थी? राबिया बोली, "सूई तो घर के अन्दर गिरी थी।" गाँववाले बोले, "मौसी, तुम भी कमाल करती हो, जो चीज़ घर के अन्दर गिरी है वह बाहर क्यों ढूँढ़ रही हो?" राबिया ने उत्तर दिया, "क्योंकि घर के भीतर अँधेरा है और यहाँ उजाला है।"

इस पर एक गाँववाला बोला, "सूई खोजने का एकमात्र तरीक़ा है कि जहाँ वह गिरी है, वहीं रोशनी करो और वहीं ढूँढ़ो।"

यह सुन कर राबिया खिलखिला कर हँस पड़ी! बोली, "छोटी-छोटी चीज़ों में तुम बड़े होशियार हो। अपने जीवन में यह होशियारी कब लाओगे? मैंने तुम सबको बाहर ही आनन्द खोजते देखा है, लेकिन कभी यह सोचा है कि जिसे बाहर खोज रहे हो, वह अन्दर ही है! क्या तुमने कभी अन्तःकरण को टटोला है?"

गाँव के लोग ठगे से रह गये और राबिया झोपड़ी में चली गयी।

—'सत्संग पथ' से साभार

छोटी टीत्सी के बड़े सपने...

(बच्चों से लेकर बड़ों तक के लिए)

हाथी बड़े होते हैं, लेकिन टीत्सी छोटी थी। वह अपने झुण्ड में सबसे छोटी थी! टीत्सी ने लम्बे होने के लिए क्या-क्या नहीं किया... सभी सम्भव उपाय आज़मा लिये। वह अपने शरीर को खींच-खींच कर अँगड़ाई लेती, ख़ूब खाती। लेकिन ऐसा लगता था कि कुछ भी मदद नहीं कर रहा था।

वह दिन टीत्सी के लिए मनहूस बन गया। सवेरे-सवेरे दुःख उस पर टूट पड़ा। वह सरोवर में तैरने जाना चाहती थी, लेकिन टीत्सी की माँ ने यह कह कर सीधा मना कर दिया कि वह बहुत छोटी है, अकेले नहीं जा सकती।

"छोटी, छोटी, छोटी..." टीत्सी बड़बड़ायी।

बाद में टीत्सी गज-समूह के साथ भोजन की तलाश में जंगल में निकल पड़ी। वे सब एक जगह रुक कर पेड़ों के पत्ते खाने लगे। टीत्सी ने भी बड़ी कोशिश की, लेकिन वह उन टहनियों तक पहुँच ही नहीं पायी, यहाँ तक कि निचली टहनियाँ भी उसके लिए बहुत ऊँची थीं!

"मैं **कुछ भी** करने के लिए बहुत छोटी हूँ!" हताशा की मारी टीत्सी रो पड़ी।

शाम को, अपने दल के साथ वह पहाड़ी के पीछे डूबते सूरज को देखने की कोशिश में लगी थी, लेकिन कहाँ देख पा रही थी वह कुछ भी??? अपने पंजों पर उचक-उचक कर भी वह कामयाब नहीं हुई।

"माफ़ कीजियेगा, माफ़ कीजियेगा," बड़ी नम्रतापूर्वक टीत्सी ने सबसे कहा, "मैं आपलोगों के घुटनों के ऊपर भी कुछ देखना चाहती हूँ, ज़रा बढ़िये, रास्ता दीजिये।" लेकिन कोई उस नन्हीं टीत्सी को सुन ही नहीं पाया। वे सूर्यास्त के पल-पल बदलते सुन्दर रंगों में डूबे हुए थे।

"देखो, देखो टीत्सी!" उसकी मासी ने कहा। "कितना शानदार सूर्यास्त है न? सब कुछ चमकते सोने में बदल गया है।"

"क्या सचमुच?" दुःखी हो, टीत्सी बोली। सुनहला उसका प्रिय रंग था।

टीत्सी वहीं बैठ गयी और अपने दल के आगे बढ़ने का इन्तज़ार करने लगी ताकि सबके हट जाने पर वह भी उस सौन्दर्य के घूँट पी सके। लेकिन

क्या वह सूर्यास्त उसके लिए ठहरता? इसलिए वह कुछ देर वहीं बैठ कर कल्पना करने लगी कि कितना भव्य होगा वह सूर्यास्त!! फिर ख़ुद को सान्त्वना देने के लिए बोल उठी, "सचमुच इतना कल्पनातीत होगा कि उसे शब्दों में बाँधा ही नहीं जा सकता।"

अगली सुबह टीत्सी बेहद उदास थी। वह हरी घास के एक मैदान में जाकर बैठ गयी जो उदास होने के लिए उसे अच्छी जगह लगी। उसके ऊपर बहुत सारा नीला आकाश था जिसके नीचे बैठे-बैठे यह सोचा जा सकता था कि वह कितनी छोटी है! टीत्सी धम्म से वहाँ बैठ गयी। "लानत है मुझ पर!" वह बुदबुदायी।

अचानक टीत्सी को एक धीमी आवाज़ सुनायी दी, "लानत क्या होता है?" टीत्सी ने नीचे घास पर देखा, वहाँ एक छोटी-सी चुहिया मुँह उठाये उसे निहार रही थी।

"लानत का मतलब है उदासी," टीत्सी ने कहा, "और आज मैं बहुत उदास हूँ।" टीत्सी ने अपने नये मित्र को अपनी दुःखभरी रामकहानी सुना दी, "जानते हो कितनी छोटी हूँ मैं दोस्त! न पेड़ की पत्तियाँ खा सकती हूँ और सूर्यास्त देखने जाती हूँ तो अपने झुण्ड के बस घुटने ही घुटने दिखते हैं। मैं सचमुच नाटी हूँ, बौनी हूँ," टीत्सी के आँसू टपक गये।

"नहीं, नहीं, तुम छोटी तो बिलकुल भी नहीं हो, तुम तो सचमुच बड़ी हो, ब-हु-हु-त बड़ी," नन्हीं चुहिया आँखें फाड़ कर बोली।

"क्या सचमुच तुम ऐसा सोचती हो?" टीत्सी ने चहकते हुए पूछा। उसकी आँखें चमकने लगीं।

"हाँ, हाँ, सचमुच" चुहिया बोली, "आज तक जितने भी प्राणी मैंने देखे हैं तुम उनमें सबसे बड़ी हो!"

टीत्सी की ख़ुशी उसके अन्दर समा नहीं पा रही थी। वाह! किसी की नज़रों में वह बड़ी थी! 'यह तो मेरा सपना साकार हो गया'—टीत्सी का दिल बल्लियों उछलने लगा। वैसे भी अन्दर से तो वह हमेशा अपने-आपको बड़ा ही अनुभव करती थी, और आज बाहर से भी उसे बड़ा घोषित कर दिया गया! अब टीत्सी ने नीचे अपने नये मित्र की ओर देखते हुए कहा, "मुझे बहुत खेद है कि तुम इतनी छोटी हो। और मैं बख़ूबी जानती हूँ कि तुम अन्दर से हमेशा कैसा महसूस करती होगी।"

"इसमें खेद की कोई बात ही नहीं है दोस्त, मुझे तो छोटा होना अच्छा लगता है! मैं कभी भी, कहीं भी, आरामदायक कोनों में दुबक सकती हूँ और मेरे ऐसे कितने ही गोपनीय स्थल हैं जिनके बारे में कोई भी नहीं जानता!"

"वाह, वाह, बहुत ख़ूब! तो छोटा होना भी अच्छा **हो सकता है**।" टीत्सी झूम उठी। उसके बाद टीत्सी और चुहिया 'छोटे होने' और 'बड़े होने' के बारे में तब तक बातें करती रहीं जब तक उनकी माँओं ने उन्हें बुला न लिया।

"तुमसे मिल कर बड़ी ख़ुशी हुई" टीत्सी ने चुहिया को अपनी सूँड़ पर उठा कर, धन्यवाद देते हुए कहा। "और अगर कभी तुम ऊँची रखी किसी चीज़ तक न पहुँच पाओ तो मुझे बता देना, मैं फ़ौरन तुम्हारी सहायता कर दूँगी।"

"बहुत-बहुत शुक्रिया!" चुहिया ने चूँ-चूँ करते हुए उसे ख़ुदाहाफ़िज कहा। जाते-जाते वह हँस कर बोली, "अगली बार जब मिलेंगे तो लुका-छिपी खेलेंगे, तुम मुझे कभी नहीं ढूँढ़ पाओगी!"

टीत्सी ख़ुशी से उछलती-कूदती अपने दल से जा मिली।

"मेरी बच्ची, बाहर से आकर तुम बहुत ख़ुश दीख रही हो, अब बेहतर लग रहा है न तुम्हें?" माँ ने टीत्सी से पूछा।

"ओह हाँ, माँ हाँ, बहुत बढ़िया।" टीत्सी अपनी माँ से चिपक कर चहक उठी। "माँ, मैं जानती हूँ कि मैं छोटी-सी हथिनी हूँ, लेकिन कई दूसरे जानवरों के सामने जानती हो मैं सचमुच ब..हु..त... बड़ी हूँ!"

"बिलकुल सही, और एक दिन तुम भी हम सब बड़ों के जितनी बड़ी हो जाओगी मेरी प्यारी बच्ची," माँ ने सूँड़ से उसकी पीठ सहलाते हुए कहा।

टीत्सी यह सोच कर भाव-विभोर हो उठी कि वह कितने सूर्यास्त अपने झुण्ड के साथ खड़ी होकर देख सकेगी। "वाह! माँ, मैं पेड़ों की ऊँची-से-ऊँची डालों की पत्तियों तक पहुँच जाऊँगी!" ख़ुशी से निहाल हो उठी नन्हीं टीत्सी।

टीत्सी बैठ गयी, पल-भर सोचने के बाद बोली, "माँ, आज मैं समझ गयी कि छोटा होना भी अच्छा है।"

टीत्सी की माँ ने उसे अपने अंक में भरते हुए बड़े प्यार से कहा,

"तुम एकदम ठीक कह रही हो बेटी, बड़ा या छोटा—उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तुम जो हो उस पर तुम्हें गर्व होना चाहिये और हमेशा ख़ुशी-ख़ुशी जीवन बिताना चाहिये।"

छोटी टीत्सी बड़ी बनने के सपनों को संग लिये माँ की गोद में दुबक कर सो गयी!

'अग्निशिखा' फ़रवरी २०१९ से

रूपान्तर—वन्दना —रेबेका ग्राज़ुलिस

जलती मोमबत्ती हाथ में लिये वह छोटा बच्चा चुपचाप कुछ खोया-खोया सा चला जा रहा था। मैंने पूछा, "कहाँ से आता है यह प्रकाश?" तुरन्त उसने मोमबत्ती बुझाते हुए कहा, "बताइये, यह कहाँ चला गया, फिर मैं आपको बताऊँगा कि कहाँ से आया था यह।"

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पॉण्डिचेरी ६०५००१, भारत

सम्पादक : वन्दना

स्वामी : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी-६०५००१

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

उस कार्य को करने के लिए ही हमने जन्म किया ग्रहण,
कि जगत् को उठा प्रभु तक ले जायें, उस शाश्वत प्रकाश में पहुँचायें,
और प्रभु को उतार जगत् पर ले आयें; इसीलिए हम भू पर आये
कि इस पार्थिव जीवन को दिव्य जीवन में कर दें रूपान्तरित।

'सावित्री' से **श्रीअरविन्द**

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

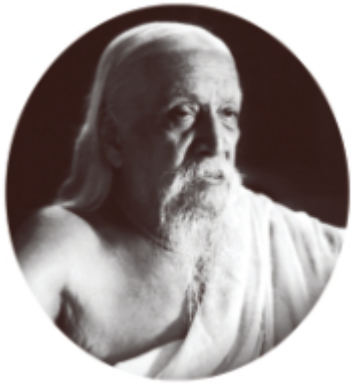

Study Camp on The Life Divine

Chapter wise summary

By Dr. Alok Pandey

Venue :

Beach Office

Dates:

22nd February to 28th February

Timings:

5.15 pm to 6 pm and 6.15 to 7 pm

Date of Publication: 1st February 2025
Rs. 30 (Monthly)

अग्निशिखा एवम् पुरोधा, वर्ष २, अंक ७, PONHIN/2023/88119
PY/082/2024-2026
प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१

SRI AUROBINDO
A CALL TO NEW INDIA
A New Dawn Series

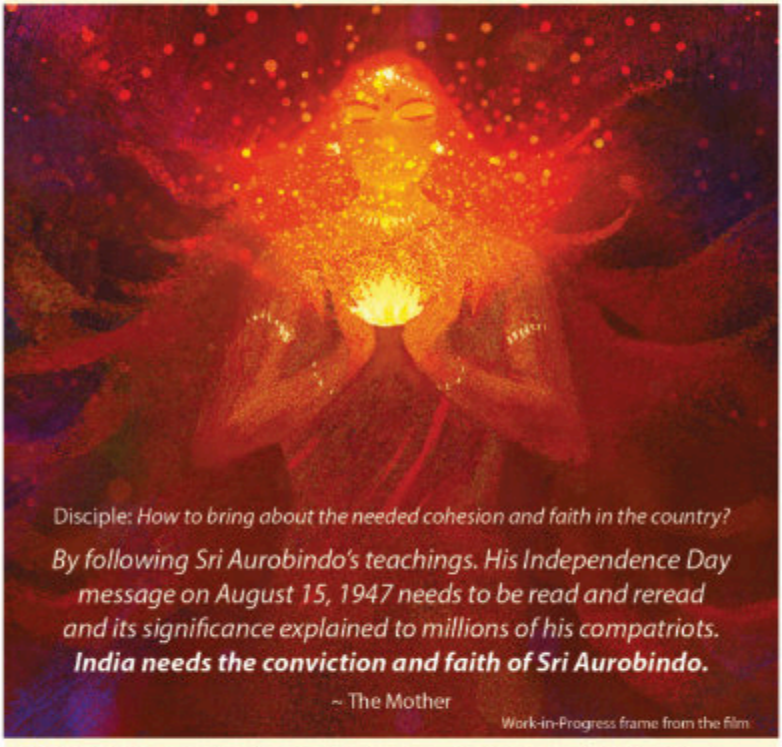

A short animation film based on the 5 Dreams of Sri Aurobindo by Sri Aurobindo Society
Participate in creating this inspirational film!
DONATE at www.anewdawn.in